संगीत
शिक्षण और शिक्षक

डॉ॰ जयचन्द्र शर्मा

मूल्य ३) ५०

संगीत शिक्षण और शिक्षक

लेखक

डॉ० जयचन्द्र शर्मा

सादर समर्पित

परम स्नेही एवं गुरुभाई
स्व० श्री बच्छराज सुराना, चूरू
(सामाजिक कार्यकर्ता एवं क्रांतिकारी)

को
पावन स्मृति

प्राक्कथन

संगीत लोकरंजन का प्रमुख साधन है। शिक्षा के साथ इसको एक विषय के रूप में पाठ्यक्रम में रखना उचित ही है। इससे बालको की अभिरुचि अन्य विषयो के प्रति बिगड़ने नही पाती। अभिरुचि के बिगड़ने से शिक्षा-प्रणाली अव्यवस्थित हो जाती है और अव्यवस्थित शिक्षा बालकों को बलपूर्वक विनाश की ओर खींच ले जाती है। वर्तमान संगीत-शिक्षा पर शिक्षा-विभाग का नियंत्रण है किन्तु इसमें काफी सुधार की आवश्यकता है।

शिक्षण-संस्थाओं मे संगीत-शिक्षा किस रूप में हो, इसके लिए जब तक शिक्षा शास्त्री गम्भीरता पूर्वक विचार करके इस विषय के अभ्यास-क्रम मे सुगम एवं वैज्ञानिक प्रणाली को नही अपनाएंगे तब तक बालको में शास्त्रीय-संगीत के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होना अति कठिन है। आज संगीत शिक्षा विद्यालयों मे है अवश्य किन्तु उसका शिक्षण एक प्रदर्शन-मण्डली के रूप मे ही चल रहा है और इससे कोई वास्तविक लाभ नही है।

हमारे सामने यह प्रश्न बारम्बार आता है कि क्या वर्तमान संगीत-पद्धति बाल-वर्ग एवं तरुण-वर्ग के लिए उपयुक्त है? भारत जैसे विशाल राष्ट्र में जहां शिक्षा के अन्य विषयों में नित नए प्रयोग किए जा रहे हैं, वहां शास्त्रीय-संगीत आज से पांच सौ वर्ष पूर्व की महफिलबाजी से प्रभावित होकर सिसक रहा है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय-संस्कृति की सुरक्षा की रट लगाने वाले उन कला-साधकों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि

वे संगीत-कला के अमृत को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचाने में सफल हो सकें।

हमारा देश हर क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है। संगीत के क्षेत्र में भी उन्नति हुई है परन्तु संगीत शिक्षा-प्रणाली के विषय में संगीत-विद्वानों ने अभी तक उचित रूप से विचार नहीं किया है। आज शिक्षण-संस्थाओं में संगीत, नृत्य प्रतियोगिता तथा आयोजनों तक ही संगीत विषय का मूल्यांकन किया जाता है, जो संगीत की सच्ची शिक्षा देने के प्रयत्नों से काफी परे है।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख कर संगीत-शिक्षा हेतु सरल एवं वैज्ञानिक प्रणाली अपनाने पर विशेष जोर दिया गया है क्योंकि शिक्षण-संस्थाओं में पेशेवर कलाकारों की तरह साधना कराना बालकों के चहुंमुखी विकास को रोकना है।

सरल एवं वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने के लिये इस पुस्तक में अनेक उपाय बताये गये हैं, जो संगीत–शिक्षकों के लिये अत्यन्त उपयोगी तथा महत्व-पूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। इन साधनों के आधार पर एक कुशल संगीत शिक्षक इस विषय के प्रति बालकों की बराबर रुचि बनाये रख कर उन्हें उचित ज्ञान करा सकता है।

इस पुस्तक को तैयार करने में डा० मनोहर शर्मा (सम्पादक, वरदा) के परामर्श का विशेष लाभ प्राप्त हुआ है. जिसके लिए हृदय से आभार स्वीकार किया जाता है। श्री मेघराज वर्मा 'मुकुल' सांस्कृतिक अधिकारी राजस्थान सरकार जयपुर ने अपना बहुमूल्य समय देकर पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की है, एतदर्थ आपके प्रति आभार प्रकट करना लेखक का आवश्यक कर्तव्य है।

बसन्त पंचमी, सम्वत् २०२७

जयचन्द्र शर्मा

भूमिका

भारत का शास्त्रीय-संगीत दरबारों और महलों के बीच पला है। संगीत साधकों ने अपने गले के विभिन्न चमत्कारों से समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त किया है और संगीत क्षेत्र में घरानावाद का प्रभाव चला आ रहा है। घराने की कला पेशेवर गायकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है किन्तु प्रत्येक मानव इसका आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रीय संगीत-शिक्षा का जो स्वरूप हमारे सामने चला आ रहा है, वैज्ञानिक न होने के कारण समाज को उससे कोई लाभ नहीं हुआ है। अतः भारतीय संगीत की शिक्षा में वैज्ञानिक प्रणाली अपनाने की नितान्त आवश्यकता है।

आज की शैक्षणिक-संस्थाओं मे संगीत को स्थान दिये जाने का उद्देश्य यह रहा है कि हम अपने शास्त्रीय-संगीत को सुरक्षित रख सकें तथा देश के प्रत्येक नागरिक को इसका ज्ञान करा सकें। परन्तु देश के संगीत-शास्त्रियों ने इसका जरा भी महत्व समझ लिया होता तो आज का शिक्षार्थी इस विषय का ज्ञान प्राप्त कर समाज कल्याण की भावना के साथ जन-जन में संगीत की ज्योति जगा देता।

हमारा संगीतज्ञ सदा से ही शिक्षण को महत्व न देकर प्रदर्शन की ओर दौड़ता रहा है। प्रदर्शन की क्रियाएं हमारे देश में परम्परागत चली आरही है। हमारे कलाकारों ने राष्ट्र की प्रतिष्ठा विश्व में प्रदर्शनों के द्वारा बढ़ाई है। इससे प्रत्येक भारतवासी को गर्व है। किन्तु जहां संगीत-शिक्षा का सवाल है वहां

सभी अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान संगीत-शिक्षा सिवाय महफिलबाजी के और कुछ नहीं है। संगीत के प्रचार हेतु प्रतिदिन अनेक योजनाएं बनाई जाती हैं और ऐसा प्रचार किया जाता है कि संगीत आगे बढ़ रहा है। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो आज के संगीतज्ञ स्वतन्त्रता का वह आनन्द प्राप्त नहीं कर रहे हैं जो स्वतंत्रता से पूर्व के संगीत-समाज में था। आज के कलाकार तो आपस में मिलकर बैठ भी नहीं सकते।

लोकतंत्र के इस युग में जबकि संगीत एक स्वतन्त्र विषय के रूप में विद्यार्थी को सिखाया जाता है, समस्त संगीत-शिक्षकों का प्रशिक्षित होना अनिवार्य है। आज बालक को संगीत-शिक्षा के रूप में घरानावाद पर बल देकर जो अभ्यास कराया जाता है, उसे संगीत की सही शिक्षा नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक में बाल-मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर परम्परागत-शिक्षा-प्रणाली को अति कठिन बताया गया है। इस विषय में प्रत्येक संगीत-शिक्षक को ध्यान देना आवश्यक है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक संगीत-शिक्षा के सम्बन्ध में न तो संगीत-शास्त्रियों ने ही इस पर गम्भीरता से विचार किया और न ऐसी पुस्तकें ही लिखी गईं, जो वर्तमान युग में वैज्ञानिक प्रणाली से संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में अपनी मान्यता स्थापित कर सकें।

आज भारतीय-संगीत घरानावाद से इतना अधिक प्रभावित है कि उस पर अन्य कोई भी प्रणाली किसी भी रूप में असर नहीं कर सकती। संगीत के इस परम्परावाद की शिक्षण-संस्थाओं में आवश्यकता नहीं है, क्योंकि परम्परावाद का उद्देश्य बालक को अन्य विषयों से दूर रखकर एकमात्र संगीत विषय का ही विशेषज्ञ बनाना रहा है, जो प्रत्येक बालक पर लागू किया जाना उचित नहीं है।

इस पुस्तक में बाल-मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर जो मार्ग दिखलाया गया है, वास्तव में वह भारतीय-संगीत के प्रति बालकों में अभिरुचि उत्पन्न करने वाला है। अगर इस प्रकार के सरल एवं वैज्ञानिक तरीकों को अपनाकर शिक्षा दी जावे तो संगीत-शिक्षा का सही लाभ विद्यार्थियों

को इन शिक्षण-संस्थाओं से सहज ही प्राप्त हो सकता है ।

पुस्तक में खेल-पद्धति, चार्ट-प्रणाली एवं सामूहिक-गान द्वारा संगीत शिक्षण का ज्ञान कराने का जो तरीका समझाया गया है, वह वास्तव में सराहनीय है। बालकों की रुचि को जागृत करने के लिये लेखक ने पुस्तक में काफी सामग्री दी है। प्रस्तुत पुस्तक की यह सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

आज संगीत-शिक्षण सम्बन्धी जो समस्याएं शिक्षक के सामने हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनका समाधान करने में काफी सहायक सिद्ध होगी क्योंकि शिक्षण संस्थाओं में घरानावाद को छोड़कर नवीन युग की मांग के अनुसार कार्य करने वाले शिक्षक ही बालकों को शास्त्रीय-संगीत का आनन्द दिलाने मे सहायक हो सकते हैं। जिस सुगम तरीके से संगीत-शिक्षा की वैज्ञानिक पद्धति इस पुस्तक में दी गई है, वह व्यावहारिक तथा रोचक है। ऐसी पद्धति से ही शास्त्रीय-संगीत से कला-प्रेमी अपने हृदय का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत प्रकाशन को शिक्षण-संस्थाओं मे एव संगीत समाज मे अच्छा सम्मान प्राप्त होगा।

जयपुर (राजस्थान)
७ अप्रैल १९७१

मेघराज 'मुकुल'

सभी अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान संगीत-शिक्षा सिवाय महफिलबाजी के और कुछ नहीं है। संगीत के प्रचार हेतु प्रतिदिन अनेक योजनाएं बनाई जाती हैं और ऐसा प्रचार किया जाता है कि संगीत आगे बढ़ रहा है। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो आज के संगीतज्ञ स्वतन्त्रता का वह आनन्द प्राप्त नहीं कर रहे हैं, जो स्वतंत्रता से पूर्व के संगीत-समाज में था। आज के कलाकार तो आपस में मिलकर बैठ भी नहीं सकते।

लोकतंत्र के इस युग में जबकि संगीत एक स्वतन्त्र विषय के रूप में विद्यार्थी को सिखाया जाता है, समस्त संगीत-शिक्षकों का प्रशिक्षित होना अनिवार्य है। आज बालक को संगीत-शिक्षा के रूप में घरानावाद पर बल देकर जो अभ्यास कराया जाता है, उसे संगीत की सही शिक्षा नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक में बाल-मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर परम्परागत-शिक्षा-प्रणाली को अति कठिन बताया गया है। इस विषय में प्रत्येक संगीत-शिक्षक को ध्यान देना आवश्यक है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक संगीत-शिक्षा के सम्बन्ध में न तो संगीत-शास्त्रियों ने ही इस पर गम्भीरता से विचार किया और न ऐसी पुस्तकें ही लिखी गई, जो वर्तमान युग में वैज्ञानिक प्रणाली से संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में अपनी मान्यता स्थापित कर सकें।

आज भारतीय-संगीत घरानावाद से इतना अधिक प्रभावित है कि उस पर अन्य कोई भी प्रणाली किसी भी रूप में असर नहीं कर सकती। संगीत के इस परम्परावाद की शिक्षण-संस्थाओं में आवश्यकता नहीं है, क्योंकि परम्परावाद का उद्देश्य बालक को अन्य विषयों से दूर रखकर एकमात्र संगीत विषय का ही विशेषज्ञ बनाना रहा है, जो प्रत्येक बालक पर लागू किया जाना उचित नहीं है।

इस पुस्तक में बाल-मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर जो मार्ग दिखाया गया है, वास्तव में वह भारतीय-संगीत के प्रति बालकों में अभिरुचि उत्पन्न करने वाला है। यदि इस प्रकार के सरल एवं वैज्ञानिक तरीकों को अपनाकर शिक्षा दी जाये तो संगीत-शिक्षा का सही लाभ विद्यार्थियों

को इन शिक्षण-संस्थाओं से सहज ही प्राप्त हो सकता है।

पुस्तक में खेल-पद्धति, चार्ट-प्रणाली एवं सामुहिक-गान द्वारा संगीत शिक्षण का ज्ञान कराने का जो तरीका समझाया गया है, वह वास्तव में सराहनीय है। बालकों की रुचि को जागृत करने के लिये लेखक ने पुस्तक में काफी सामग्री दी है। प्रस्तुत पुस्तक की यह सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

आज संगीत-शिक्षण सम्बन्धी जो समस्याएं शिक्षक के सामने हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनका समाधान करने में काफी सहायक सिद्ध होगी क्योंकि शिक्षण संस्थाओं में परानावाद को छोड़कर नवीन युग की माग के अनुसार कार्य करने वाले शिक्षक ही बालकों को शास्त्रीय-संगीत का आनन्द दिलाने मे सहायक हो सकते हैं। जिस सुगम तरीके से संगीत-शिक्षा की वैज्ञानिक पद्धति इस पुस्तक मे दी गई है, वह व्यावहारिक तथा रोचक है। ऐसी पद्धति से ही शास्त्रीय-संगीत से कला-प्रेमी अपने हृदय का सम्बन्ध स्थापित कर सकते है।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत प्रकाशन को शिक्षण-संस्थाओं मे एव संगीत समाज मे अच्छा सम्मान प्राप्त होगा।

जयपुर (राजस्थान)
७ अप्रेल १९७१

मेघराज 'मुकुल'

अनुक्रम

संगीत और संगीत-शिक्षक

विश्व के प्रत्येक खण्ड की सभी जातियों एवं व्यक्तियों के जीवन में संगीत का संबंध किसी न किसी रूप में स्पष्ट दिखलाई देता है। मनुष्य के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु पर्यन्त संगीत का ऐसा रिश्ता जुड़ा हुआ है कि वह उसे किसी भी दशा में पृथक् नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति के जीवन में संगीत नहीं, उसे बिना सींग-पूछ के पशु तक की संज्ञा दी गई है।

वास्तव में देखा जाए तो संगीत केवल सुनने-सुनाने की कला नहीं है। यह तो मनुष्य के जीवन से संबंधित आनन्दतत्व है, जिसके द्वारा वह अपने भावों की अभिव्यक्ति नाच-गाकर करता है। गुरु द्वारा दी गई संगीत-शिक्षा से इसके सैद्धान्तिक पक्ष के ज्ञान में वृद्धि होती है। जिन विद्वानों ने संगीत के किसी भी पक्ष पर साधना के द्वारा अपना अधिकार प्राप्त कर लिया है, वे अपने ज्ञान को अन्य व्यक्तियों तक पहुंचाने का प्रयास करते हैं। ऐसी क्रिया को विद्वानों ने शिक्षा कहा है।

संगीत की विविध ध्वनियों का जब कोई व्यक्ति अनुकरण कर लेता है वह उसका प्रायोगिक पक्ष कहलाता है। संगीत की यह प्रायोगिक-क्रिया बिना सिखाये भी व्यक्ति ग्रहण कर सकता है क्योंकि यह पक्ष मनुष्य जीवन के अति निकट है किन्तु संगीत के शास्त्रीय-पक्ष के लिये दिशा-निर्देशक की आवश्यकता सदैव रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीत के प्रायोगिक पक्ष का प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक अवस्था से घनिष्ठ संबंध है।

गायन वादन तथा नर्तन इन तीनों कलाओं के समावेश को संगीत कहा गया है। गायन कला में कण्ठ-संगीत आता है। वादन-कला के दो भेद हैं—स्वर-

वाद्य तथा लय अथवा तालवाद्य । स्वर-वाद्यों से संगीत के रागों का प्रदर्शन किया जाता है तथा लय अथवा ताल वाद्यों से समय के माप को प्रकट किया जाता है। नर्तन-कला की क्रियाओं में शारीरिक चेष्टाओं द्वारा भाव-प्रदर्शन होता है। इस-लिये नृत्यकला-प्रदर्शन के लिए गायन एवं वादन-कला का सहारा लेना पड़ता है। अतः नृत्यकला इन दोनों कलाओं के आधीन मानी गई है।

संगीत कला की पृष्ठभूमि में भारत में प्रारम्भ से ही धार्मिक-भावनाओं की प्रधानता रही है। वैदिक काल से लेकर बौद्धकाल तक संगीत का स्वरूप धार्मिक प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत रहकर समस्त समाज को प्रभावित करता रहा है। हमारे देश में संगीत कला को आध्यात्मिक ज्ञानार्जन करने का सबसे सुगम तथा उपयोगी साधन माना गया है। संगीत का महत्व प्रत्येक भारतवासी जानता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, सरस्वती देव, किन्नर आदि सभी ने इस कला की साधना करके अपने को धन्य माना है।

भारतीय संगीत दो भागों में विभाजित है। एक को लोकसंगीत की संज्ञा दी गई है तथा दूसरे को शास्त्रीय-संगीत की। लोक-संगीत लौकिक परंपराओं के अनुसार प्रत्येक जाति तथा वर्ग में पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा है। इसकी शिक्षा के लिये किसी गुरू या संस्था की आवश्यकता नहीं होती। देश, काल तथा वातावरण के अनुसार बिना कठिनाई के इस संगीत को व्यक्ति सरलतापूर्वक एक दूसरे का अनुकरण करके सीख लेता है। लोक-संगीत का क्षेत्र काफी बड़ा माना गया है। इसी संगीत को नियमबद्ध कर देने पर शास्त्रीय-संगीत की उत्पत्ति हुई है। जहां संगीत की विद्वत्ता की चर्चा होती है, वहां लोक-संगीत तथा उसके गाने बजाने वालों का कोई स्थान नहीं होता। लोकसंगीत की न कोई शिक्षण-संस्था होती है और न उसके शिक्षण के लिए कोई योजना अथवा पाठ्य-क्रम ही होता है। यह तो मानव के भावों की सरल अभिव्यक्ति है, जो स्वर तथा ताल के द्वारा प्रदर्शित की जाती है।

प्रारम्भ में व्यक्ति स्वयं गा बजाकर संगीत का आनन्द लेता था किन्तु जब से समाज में ऊंच-नीच का भेद-भाव बना सामाजिक परिस्थितियां बदली तथा मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ी और फलस्वरूप वर्गों के अनुसार कार्यों का विभाजन हुआ तो संगीतकला पर भी इसका प्रभाव पड़ा और नाचने-गाने का कार्य एक वर्ग ने अपना लिया। शिक्षित वर्ग ने ज्ञान तथा बुद्धि के आधार पर संगीत को नियमों में बांधकर उसका शास्त्रीय रूप समाज के सामने प्रस्तुत किया। उच्च

श्रेणी के विद्वान, रईस एवं शासकों ने ऐसे संगीत को बराबर प्रोत्साहित किया।

समय पाकर शास्त्रीय-संगीत एक ऐसे वर्ग के पास चला गया, जो सर्वथा अशिक्षित था किन्तु कण्ठ की विशेष साधना करके स्वर एवं ताल के चमत्कारिक प्रयोग द्वारा उसने समाज को प्रभावित कर लिया और उसकी गायन शैली शास्त्रीय बन गई, जो आज भी उसी रूप में प्रचलित है।

आज संगीत का सीधा सम्बन्ध शिक्षण-संस्थाओं से हो गया है। आज का संगीतज्ञ एक अध्यापक है। शिक्षण संस्थाओं के समस्त हानि-लाभ का प्रभाव समाज पर पड़ता है। अतः कोई भी व्यक्ति अध्यापक के कर्तव्य को उचित रूप से समझकर उसका पालन करने पर ही अपने विषय में सफलता प्राप्त कर सकता है। अगर संगीतज्ञ ने अपने आपको एक कुशल अध्यापक के रूप में ढाल लिया तो उसकी कला तथा साधना सभी के लिये एक वरदान बन जाएगी।

आज समस्त देश की व्यवस्था इस प्रकार बन गई है, जिसमें व्यक्ति समाज से अपने आपको अलग नहीं रख सकता। संगीतज्ञ समाज में रहते हुए भी अपने को समाज से पृथक् मानता आया है। इसी कारण संगीत और संगीतज्ञ दोनों ही अपना स्थान समाज में नहीं बना पाये और संगीत-साधना का उचित लाभ भी समाज को नहीं मिल सका।

संगीत-अध्यापक भी समाज का एक अंग है, जिसका कर्तव्य संगीत-शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक बालक को उत्तम से उत्तम नागरिक बनाने में योग प्रदान करना है। संगीत-शिक्षक को चाहिये कि वह बालकों को कलाकार बनाने की भावना छोड़ कर विषय का ज्ञान कराने के लिये परिश्रम करे, ताकि बालकों को उसका उचित लाभ मिल सके।

कलाकार में समाजिकता

कलाकारों का सोचने का तरीका अलग अलग हो सकता है। इसी कारण उनकी इच्छाएं भी अलग अलग होना स्वभाविक है। जहां पृथक् पृथक् विचार तथा इच्छाएं रहेंगी वहां आपस में संघर्ष भी हो सकता है। एक साधक तान बाजी को पसन्द करता है, तो दूसरा आलाप की गायकी को विशेष महत्व देता है। इस प्रकार कई कारण ऐसे हो सकते हैं, जिनके कारण समानता होना अति कठिन है। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक बन्धन में रहते हुए भी हमारे अन्दर भगड़ालूपन की प्रवृत्ति है।

किसी किसी कलाकार में यह प्रवृत्ति इतने निम्न स्तर की पाई जाती है कि उसके कारण वह अपने जीवन में कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक गायक अपने को दूसरे गायक से हमेशा उच्च श्रेणी का मानता है। वह सहायक तबले-वादक को, जो उसके साथ संगत में नहीं आता है, सहयोगी के रूप में अपनाने को तैयार नहीं होता। इस प्रकार के आपसी संघर्ष से कलाकारों में कटुता उत्पन्न हो जाती है, जो सामाजिक जीवन को उन्नतिशील बनाने में हमेशा बाधक ही सिद्ध होती है।

आपसी मनमुटाव या घृणा की भावना से कला-जगत् में अशान्त वातावरण बन जाता है। कई कलाकार एक दूसरे को शत्रु के रूप में समझने लगते हैं और वे कला के वास्तविक ध्येय से दूर होकर समाज में असहयोग की भावना बढ़ाते हैं। कला का उद्देश्य आपस में मेल-जोल बढ़ाकर और भाईचारे का वातावरण उत्पन्न कर समाज में सुख शान्ति का साम्राज्य बनाना है। परन्तु आज का कलाकार बुराइयों की तरफ बढ़ता जा रहा है। कलाकार भी देश का एक नागरिक है। अतः उसका कर्तव्य है कि वह अपनी कला के माध्यम से बालकों को समाज की बुराइयों को दूर करने की शिक्षा देकर उन्हें आदर्श नागरिक बनने की राह दिखाये।

आज का कलाकार स्वयं भटका हुआ होने के कारण अपने उद्देश्य से परे होता जा रहा है और अपनी साधना के पश्चात् भी घुटन अनुभव कर रहा है। वह समाज को दोषी ठहराता है कि उसकी साधना का मूल्यांकन समाज नहीं कर रहा है किन्तु उसने यह कभी नहीं सोचा कि समाज के प्रति उसका क्या कर्तव्य है ?

विद्यालयों में संगीत-शिक्षा को स्थान मिल जाने का उद्देश्य यह नहीं है कि समस्त छात्र कलाकार बन कर ही निकलें। आज के समाज ने संगीतज्ञों को अपने विषय को उन्नत करने का अवसर प्रदान किया है। संगीतज्ञों को चाहिये कि वे संगीत के हितों को ध्यान में रख कर सामाजिक परिवर्तनों को समझें और वर्तमान युग में अपने जीवन को व्यतीत करने के लिये संगीत–शिक्षा में भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनावें। आज स्वतंत्र भारत के संगीतज्ञों का कर्तव्य है कि वे आपसी मतभेदों के झगड़ों से दूर होकर संगीत–शिक्षा के वास्तविक महत्व को समझें। अतः समाज के लोगों में शास्त्रीय संगीत के प्रति अधिक से अधिक रुचि उत्पन्न करने के लिए संगीत–शिक्षा में भी व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की

आवश्यकता है।

संगीतज्ञ हमेशा अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए समाज का सहारा लेता आया है, परन्तु वह हमेशा अपने ही हित की बातें सोचता है। उसका ऐसा सोचना किसी हद तक उचित हो सकता है किन्तु उसके साथ साथ समाज हित की बात को भी ध्यान मे रख कर वह कार्य करें तो वे एक दूसरे के पूरक बन सकते हैं। किन्तु कलाकारों की मनोवृति ऐसी न होने के कारण उनको उचित शिक्षा की आवश्यकता है। योग्य संगीत–अध्यापक का प्रथम कार्य यह होना आवश्यक है कि वह संगीत मे जो गलत तथा अहित करने वाली प्रवृत्तिया हैं, उनको रोक कर बालकों की उन्नति वाली प्रवृत्तियो को बढ़ावा देवे, जिससे कि संगीत तथा बालक दोनो का विकास हो सके।

सभी संगीतज्ञ आज संगीत की शिक्षा देते हैं परन्तु जिस रूप से बालकों पर शास्त्रीय संगीत का भार थोपा जा रहा है क्या वह बालकों के जीवन उपयोगी है? ताल और तानो की जटिलता मे जकड़ा हुआ शास्त्रीय-संगीत सुकुमार बालको को किस प्रकार हजम हो सकेगा? इस बात पर बिना विचार किये ही उस्तादी-परम्परा में बंधी गायकी को विद्यालयो के पाठ्यक्रम मे रखने से कोई लाभ नहीं हो सकता।

जो संगीतज्ञ अध्यापन के दायित्व को निभाने में असमर्थ हैं और संगीत-अध्यापन का कार्य भार सम्भाल लेते हैं वे समाज मे सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी नहीं है। किन्तु जो संगीत-विद्वान् अध्यापन के दायित्व को समझकर अपने कार्य को ईमानदारी और सच्ची निष्ठा के साथ निभा रहे है, अगर उनका आदर समाज नही करता है तो वह समाज भी कभी उन्नति नही कर सकता।

आज सभी संगीत-विद्वानो के सामने यह प्रश्न है कि वे संगीत-शिक्षा मे कौन सी विधि अपनायें, जो विद्यालयो मे शिक्षण की समस्याओं को दूर कर दे। आज संगीत–शिक्षा के नाम पर जो कार्य हो रहा है,—वह बालक के नैतिक, मानसिक एव शारीरिक विकास में सहायक नहीं है। इस काम-चलाऊ शिक्षण-विधि से संगीत का ढांचा विद्यालयो मे नहीं टिक सकेगा। कुशल संगीत–शिक्षक बनने के लिए कठिन परिश्रम करना पडेगा और अपने विषय को रोचक तथा बालोपयोगी भी बनाना होगा।

संगीत शिक्षा का अर्थ

जब हम गम्भीरतापूर्वक इस बात पर विचार करते हैं कि संगीत-शिक्षा किसके लिए हैं तो हमे ज्ञात होता है कि संगीत-ज्ञान किसी वर्ग तथा जाति विशेष तक ही सीमित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग को प्रत्येक अवस्था में संगीत की आवश्यकता रहती है। अतः इस विषय का ज्ञान समस्त स्त्री, पुरुष बालक, युवा तथा प्रौढ़ों के लिए आवश्यक है।

संगीत के पिछले इतिहास को देखने से पता चलता है कि इस विषय पर एक विशेष वर्ग ने अपना अधिकार कर रखा था। इससे संगीत को समाज में उचित स्थान नहीं मिल पाया। वर्ग-विशेष के कला साधकों ने अपनी कला को शास्त्रीयता के नाम से समाज पर थोपने का बराबर प्रयास किया और समाज से उसका अनुचित लाभ भी उठाया। संगीत का प्रायोगिक पक्ष प्रबल रहने से संगीत शास्त्रियों का स्थान समाज में नहीं के समान बन गया।

अब संगीत–विद्वानों को समाज की वास्तविक स्थिति से परिचित कराने तथा सभी वर्गों को संगीत ज्ञान का समान लाभ देने के लिये संस्थाओं में योजनाबद्ध प्रणाली के आधार पर शिक्षण कार्य प्रारम्भ कर देने से इस वर्ग विशेष का एकाधिकार समाप्त होकर इसका लाभ सभी वर्गों को होने लगा है।

संगीत–शिक्षा का अभिप्राय भी अन्य विषयों की शिक्षा के समान समाज-कल्याण करना है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सुखी एव आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत कर सके। संगीत–शिक्षा के लिए एक बात विशेष विचारणीय है। इस विषय की शिक्षा जहां समाज का हित करने वाली हो सकती है, वहाँ उसमें अहित की सम्भावना भी है क्योंकि संगीत–शिक्षण में अभी तक वे ही तत्त्व घुसे हुए हैं,

जिनको दोष पूर्ण माना जाता रहा है।

संगीत शिक्षा का व्यापक अर्थ

भारतीय परम्परा के अनुसार संगीत को मोक्ष प्राप्ति का सुगम साधन माना गया है। संगीत की साधना से मनुष्य का अज्ञान दूर हो जाता है। संगीत-साधक अन्य प्राणियों के अज्ञान को दूर कर स्वर में ईश्वर को देखता है। संगीत वह शक्ति है, जो पशु-पक्षियों को भी आह्लादित कर लेती है। वेदों ने इसके गुण गाये हैं और इसका आनन्द सुर, असुर, गंधर्व, किन्नर, ऋषि, मुनि सबने लिया है। इस नाद-विद्या का आज तक कोई भी पार नहीं पा सका।

संगीत शिक्षा का संकुचित अर्थ

संगीत की शिक्षा प्राप्त करके कई व्यक्ति संगीत के व्यवसाय को अपना लेते हैं। संगीत में व्यवसाय के पृथक् पृथक् स्थान हैं जैसे संगीत-शिक्षक, रेडियो-कलाकार, सिनेमा में संगीत निर्देशक, सहायक गायक या वादक, मंचप्रदर्शक और कथा वाचक आदि। ऐसी शिक्षा का कार्य-क्षेत्र, शिक्षण-अवधि एवं विधि-विधान आदि सब निश्चित किये जाते हैं। इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली को संकुचित माना गया है।

भारतीय संगीत पर मुस्लिम प्रभाव

समय के परिवर्तन के साथ भारत का इतिहास बदला। इस देश पर मुसलमानों का शासन हुआ, जिसके कारण संगीत-कला में भी परिवर्तन आया। मन्दिरों तथा देवालयों में गाई जाने वाली राग-रागिनियां शासकों के विकास का साधन बन गईं। अतः गायन शैली में परिवर्तन हुआ। गीतों की रचनाओं में शब्दों पर भी काफी प्रभाव पड़ा और भारत का शास्त्रीय-संगीत शुद्ध एवं सात्विक भावनाओं से एकदम पृथक् हो गया। इसलिए सभ्य समाज ने संगीत तथा उसके साधकों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। स्वतन्त्रता से पूर्व तक संगीत का स्थान दूषित वातावरण में चला आ रहा था। उसका स्थान अब शिक्षण संस्थाओं में हो अवश्य गया है किन्तु शास्त्रीय-संगीत के प्रति अभी तक समाज में अरुचि ही बनी हुई है।

हम भारतवासी शास्त्रीय-संगीत के नाम पर मुगलकालीन-गायकों को महत्व देते जा रहे हैं। आज जो कुछ हम गा रहे हैं, वह सब मुस्लिम-गायकों की

नकल सी है। भारतीय-संगीत की गायन-शैली शुद्ध भारतीय न होकर मुस्लिम-उस्तादों के गले की चीज रह गई है। आज भारतीय परम्परा में रह कर भी हमारे मस्तिष्क में मुसलमानों के कण्ठों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा हुआ है कि प्रयत्न करने पर भी उसे दूर नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि क्या हमारी कोई गायन-शैली नहीं, कोई बन्दिश नहीं, कोई इतिहास नहीं, जो हम मुस्लिम-घरानों के वातावरण में पनपे हुए गायकी को ही भारतीय मान बैठे हैं। हमने अपने कण्ठ-धर्म की साधना का जरा भी ध्यान न रख कर केवल किसी घराने की नकल करना ही उच्च-गायकों में स्थान प्राप्त करना मान लिया है। आज सभी पढ़े-लिखे संगीत-शास्त्रियों तथा गायकों ने बड़े ख्यालों के पीछे समस्त साधना को लगा रखा है। क्या कभी हमने यह भी सोचा कि आज के लोकतांत्रिक युग में मोहम्मद शाह रंगीले तथा सदारंग-अदारंग की महफिलों के संगीत की क्या आवश्यकता है ?

क्या वेद-पुराणों में इन्हीं बड़े ख्यालों की प्रशंसा की गई है ? शुद्ध एवं शास्त्रीय भारतीय संगीत पर इन बड़े ख्यालों की इतनी परतें जम गई हैं कि उसको हटाने में भी काफी समय लगेगा। आज संगीत के सभी विद्वान् तथा संस्थाएं इसी गायन शैली के अधिक से अधिक प्रचार करने में सहायक बने हुए हैं। आज इन ख्यालों पर जो अधिकार प्राप्त कर लेता है, वही व्यक्ति संगीत का श्रेष्ठ कलाकार एवं विद्वान माना जाता है।

बड़ा ख्याल क्या है ?

भारत में जब मुसलमानों का शासन हुआ तो उनका प्रभाव संगीत पर भी पड़ा। अलग अलग रियासतों में छोटे तथा बड़े राजा या नबावों का राज्य रहा इनके यहां संगीत एवं नृत्यकला को विलासिता के रूप में स्थान मिला। बड़े-बड़े नवाब अपने बड़प्पन को दिखाने के लिए सभी कार्यों में बड़ा शब्द का प्रयोग करते थे। बड़े मियां,-बड़ा ख्याल, बड़ी बाई जी, बड़ी सलामी आदि नामों का उपयोग अपनी बड़ाई के लिए किया जाता था आज बड़े नवाबों का समय बीत गया किन्तु उनकी महफिलों का प्रभाव आज भी समाज पर छाया हुआ है। आज शास्त्रीय संगीत का उद्देश्य बड़े ख्याल गा लेने के बाद पूरा हो जाता है। इसी संगीत शिक्षा का प्रचार करने के लिए संगीत-संस्थाएं, शिक्षण-संस्थाएं तथा रेडियो स्टेशन आदि सभी लगे हुए हैं। परन्तु यह निश्चित है कि जिसको सुनकर साधारणजन रेडियो बन्द कर देता है या संगीत-सभा से उठ कर चला जाता है

करता रहता है। उसकी इस गुनगुनाहट का उद्देश्य संगीत की जानकारी करना नहीं है। वह अपने को रोक न पाने के कारण किसी भी धुन को स्वर-ताल-शब्दों का बिना ध्यान रखे स्वतः ही गुनगुनाने लगता है। इस गुनगुनाहट के पीछे उसके भाव छिपे रहते हैं।

बालक स्वतन्त्र संगीत का ज्ञान खेल, तमाशे, सिनेमा, घर, मन्दिर आदि अनेक साधनों द्वारा ग्रहण करता रहता है। संगीत-शिक्षक को यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि कौनसा बालक कितनी कुशलता के साथ प्रचलित धुनों का अनुकरण करने की क्षमता रखता है। इस निरीक्षण-विधि से यह जाना जा सकता है कि बालक की ग्रहण-शक्ति कैसी है। इससे शिक्षक को स्वर-ताल का ज्ञान कराने में काफी सहयोग मिल सकता है। अतः स्वतन्त्र संगीत-ज्ञान का संगीत-शिक्षा में बहुत बड़ा महत्व है।

शैक्षणिक स्तर

संगीत की उच्च शिक्षा तक पहुंचने के लिये विषय को विभाजित कर दिया जाता है। प्रत्येक विभाग को क्रम से पार करते हुए उच्च स्तर तक पहुंच जाने की क्रिया को शैक्षणिक-स्तर कहा गया है। संगीत विषय का शैक्षणिक-स्तर तीन विभागों में विभक्त है। प्रथम स्तर तीन-वर्षीय पाठ्यक्रम का है, जो इन्टर स्तर माना जाता है। दूसरा स्तर इसके बाद दो वर्षों का है, जो बी. ए. के समकक्ष है। तीसरा स्तर दो वर्षों का है, जो एम. ए. के समकक्ष है। कुछ संस्थाओं ने आगे भी दो वर्षों का स्तर पी-एच. डी. के समकक्ष बना रखा है। संगीत के इन स्तरों में उच्च से उच्च अवश्य हैं किन्तु प्रारम्भिक स्तर का कहीं पता नहीं है। यहां बालक वर्ग के लिए कोई शिक्षा-विधि नहीं है, जो संगीत की नींव को सुदृढ़ बना सके। ध्यान रखना चाहिये कि मानव-जीवन में संगीत की शिक्षा तभी लाभ दायक हो सकती है, जबकि वह बाल्यावस्था से ही मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रारम्भ की गई हो।

परम्परागत तथा संस्थागत संगीत–शिक्षा

संगीत की शिक्षा परम्परागत रही है। इसे ग्रहण करने वाले विद्यार्थी को कठिन साधना करनी पड़ती है। इस विषय में एक कहावत भी प्रसिद्ध है कि संगीत को १०० वर्ष सीखे, १०० वर्ष साधना करें, उसके बाद १०० वर्ष गुनीजनों को सुनें और उसके पश्चात् गाये तब कहीं व्यक्ति संगीत का अच्छा गायक बन सकता है। इस कहावत के अनुसार एक व्यक्ति की आयु चार सौ वर्षों की होनी चाहिये। अथवा यों कह सकते हैं कि व्यक्ति की आयु को चार भागों में विभाजित कर लिया जावे और ऐसा व्यक्ति संगीत की साधना में ही अपना पूर्ण समय दे तो वह जीवन के चतुर्थ भाग में एक कुशल कलाकार बन सकता है। इसी धारणा को लेकर संगीतज्ञ दिन-रात साधना करते दिखाई पड़ेंगे और सुनने-सुनाने की प्रबल इच्छाओं को लेकर गांवों, नगरों तथा शहरों में अपनी कला का प्रदर्शन करने तथा अन्य कलाकारों को सुनने की भावना को लेकर घूमते नजर आएंगे। संगीत-शिक्षा का यह रूप आज भी हमारे सामने है, जबकि इस शिक्षा की प्राप्ति के साधन अब प्रत्येक शहर में उपलब्ध हैं। आज शिक्षा प्राप्त करने के लिये संगीत-संस्थाएं, प्रदर्शन करने के लिए अच्छे रंगमंच तथा सुनने के लिये रेडियो का साधन होते हुए भी कला का विद्यार्थी परम्परागत प्रणाली से अधिक प्रभावित है।

परम्परागत शिक्षा प्रणाली

इस प्रणाली में विद्यार्थी को कलाकार बनाने की चेष्टा की जाती है। परन्तु जिन कलाकारों का कण्ठ विशेष प्रकार से राग की तान, आलाप अथवा अन्य क्रिया के लिये जन्म से ही श्रेष्ठ है, उनकी नकल करने की चेष्टा करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित नहीं है। परम्परागत कलाकार की शैली मुख्यतः निम्न बातों पर आधारित रहती है—

१. परम्परागत कलाकारों के विशेष प्रकार के शब्द एवं स्वर।

२. खानपान, रहन-सहन एवं वातावरण।

३. कठिन परिश्रम एवं निश्चित-परम्परा।

उपर्युक्त आधार को सम्मुख रख कर विचार किया जावे तो एक नया व्यक्ति, जिसका इन बातों से किसी प्रकार का संबंध न रहा हो, प्रयत्न करने पर भी ऐसे कलाकारों की तरह नहीं गा सकेगा। यही कारण है कि परम्परागत कला का लाभ अधिकतर उनके परिवार के व्यक्तियों को ही होता आया है।

संस्थागत शिक्षा-प्रणाली

वर्तमान समय में संगीत का शिक्षण संस्थागत प्रणाली के माध्यम द्वारा अधिक से अधिक हो रहा है। इस प्रणाली के दो रूप प्रचलित है—(१) वे संस्थाएं जो केवल संगीत की ही शिक्षा देती हैं। (२) वे संस्थाएं जहां संगीत अन्य विषयों के साथ सहायक विषय के रूप सिखाया जाता है।

संगीत संस्थाएं

आज अनेक नगरों, एवं शहरों में ऐसी संस्थाएं हैं जो संगीत विषय की शिक्षा देने का कार्य कर रही हैं। इनके भी कई प्रकार हैं—सरकार द्वारा संचालित, सरकार द्वारा सिर्फ मान्यता प्राप्त, समाज द्वारा संचालित, कलाकार द्वारा संचालित, तथा समाज और कलाकार द्वारा संचालित।

इन सभी संस्थाओं का ध्येय संगीत-शिक्षा का प्रचार करना है। ऐसी संस्थाएं संगीत-शिक्षक एवं कलाकार उत्पन्न करती हैं।

शिक्षण-संस्थाओं में संगीत

शिक्षण-संस्थाओं में संगीत को एक विषय के रूप में स्थान दिया गया है। प्राथमिकशाला से लेकर कालेज एवं विश्वविद्यालय स्तर तक इस विषय का पाठ्यक्रम निर्धारित करके शिक्षण व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है।

(अ) प्राथमिक शाला

इन संस्थाओं में संगीत विषय अनिवार्य है। पाठ्यक्रम बाल-मनोविज्ञान के आधार पर निश्चित होता है किन्तु संगीत-अध्यापकों की व्यवस्था न होने के कारण इस विषय को वहां रखने का कोई महत्व नहीं है।

(ब) बाल बाड़ी

मॉन्टेसरी पद्धति तथा अन्य मनोवैज्ञानिक आधार पर शिक्षा देने वाली इन संस्थाओं में संगीत विषय का ज्ञान कराया जाता है। परन्तु यह ज्ञान संगीत विषय का न दिया जाकर केवल बालकों के मनोरंजनार्थ एवं स्कूल के उत्सवों तक ही सीमित रहता है। ऐसी संस्थाओं में उच्च वर्ग के बालक-बालिकाएं शिक्षा का लाभ उठा सकते हैं। इन संस्थाओं मे संगीत-शिक्षक बहुत ही कुशल, सचरित्र एवं बाल मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए।

(स) माध्यमिक शाला

बड़े बड़े शहरों एवं नगरों की कन्याशालाओं में संगीत-अध्यापकों की व्यवस्था है किन्तु इन अध्यापकों मे शैक्षणिक योग्यता न होने के कारण इन शालाओं मे भी विधिवत् शिक्षण नही हो पाता। अधिकतर ऐसे संगीत-शिक्षकों से अन्य विषय पढ़ाने का काम भी लिया जाता है। इस स्तर के लिये पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित हैं परन्तु वे उपयुक्त नहीं हैं। अतः बालि-काओं मे संगीत के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं हो पाती। वहां वर्ष में संगीत-प्रति-योगिताओं की होड़ पूर्व मे संगीत का अभ्यास कुछ समय के लिए अवश्य दिखाई देता है। इस प्रकार इन संस्थाओं में भी संगीत-विषय के अध्ययन की कोई सामंजस्य व्यवस्था दृष्टिगोचर नही होती।

(द) सैकण्डरी तथा हायर सैकण्डरी

इन संस्थाओं मे संगीत विषय ऐच्छिक रूप से है जिसका पाठ्यक्रम माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की पाठ्यक्रम समिति के विद्वानों द्वारा निर्धारित किया हुआ है। इन कक्षाओं की परीक्षा-व्यवस्था भी बोर्ड करता है। संगीत की दो प्रकार से परीक्षा होती है। शास्त्रज्ञान की परीक्षा के लिये लिखित प्रश्न-पत्र करना होता है तथा प्रायोगिक-परीक्षा के लिये बोर्ड संगीत विषय के विद्वान् को परीक्षक नियुक्त करके भेजता है।

इन कक्षाओं में संगीत विषय की शिक्षा दी जाती है और विषय-अध्या-पक भी विद्यार्थियों से परिश्रम कराते हैं किन्तु बोर्ड द्वारा निर्धारित संगीत-पाठ्यक्रम मे कमियां होने के कारण संगीत का स्तर दिन प्रति दिन गिरता जा रहा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि बोर्ड ने बिना संगीत-शास्त्रियों की मान्यता देकर ऐसे अध्यापकों को शिक्षा का कार्यभार सौंपा है जो संगीत-शिक्षक

के कर्तव्य को पूर्णतया निभा नहीं पा रहे हैं। अतः उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था होना अति आवश्यक है।

इन पाठ्य-पुस्तकों में भी कोई ऐसी बात नहीं है, जिससे विद्यार्थी का ज्ञान विकसित हो। जिस प्रकार महफिल के लिए किसी व्यक्ति को अभ्यास करवाया जाता है, उसी परम्परा से इन संस्थाओं में भी अभ्यास करवाया जाना बिलकुल उचित नहीं है। वहां संगीत-कक्षा किसी महफिल के समान ही है और परीक्षा-विधि तो परीक्षक द्वारा की गई फरमाइसों की पूर्ति मात्र है। ऐसी शिक्षा और परीक्षा का विधान इन शालाओं में दूषित वातावरण उत्पन्न करके अन्य विषयों का भी अहित करता है।

(ई) महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय

यह वह स्तर है, जहाँ से विद्यार्थी उच्च ज्ञान प्राप्त कर अपने विषय का विद्वान् बनता है। स्नातक स्तर के विद्यार्थी ऐच्छिक विषय के रूप में संगीत विषय लेकर लाभ उठा सकते हैं तथा स्नातकोत्तर स्तर में पूर्ण रूप से एक ही विषय लेने का प्रावधान है। राजस्थान में सिर्फ महिला-महाविद्यालयों में संगीत विषय की व्यवस्था होने के कारण छात्र-शिक्षार्थी इच्छा होते हुए भी इस विषय से वंचित रह जाते हैं। स्वयंपाठी-छात्र या शिक्षक बडी मुश्किल से विश्वविद्यालय के संगीत विषय का लाभ उठा पाता है। स्नातकोत्तर संगीत-शिक्षा तथा परीक्षा का दायरा तो इतना संकुचित रखा है कि छात्रा-स्नातक उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् अपना विषय तक बदल लेती है।

इन संस्थाओं की शिक्षा और परीक्षा की व्यवस्था न शिक्षा ही मानी जा सकती है और न महफिल ही। विद्यार्थी को इन कक्षाओं में क्या ज्ञान कराना है, यह जानकारी न होने से संगीत की इतिश्री कालेज की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् हो जाती है। संगीत, जिसका संबंध व्यक्ति के जीवन से है, कालेज तक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी उन छात्राओं के जीवन में नहीं उतर पाता तो ऐसी शिक्षा और ऐसे विषय के लिए समय तथा अर्थ दोनों का दुरुपयोग ही कहना चाहिए।

कलाकार और संगीत शिक्षा

संगीत साधना के बाद जिस व्यक्ति ने अपने कला-प्रदर्शन से समाज को प्रभावित कर एक विशेष स्थान बना लिया है, ऐसे साधक को समाज कलाकार की

श्रेणी में मानता है। कलाकार की साधना का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है। आवश्यकतानुसार प्रत्येक गाँव तथा नगर में कलाकार होते हैं। छोटे से छोटे गाँव में रहने वाला व्यक्ति, जिसे संगीत की साधारण सी जानकारी हो, उस गाँव के लोगों की दृष्टि में किसी भी भारत-प्रसिद्ध कलाकार से कम नहीं होता। गाँव के लोग ऐसे साधक के प्रति बड़ी सद्भावना रखते हैं तथा कला संबंधी चर्चा के समय ऐसे साधक के कारण गाँव को गौरवान्वित भी मानते हैं।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि जो व्यक्ति सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेकर उनके आयोजनों को सफल बनाने में जरा भी अपनी कला का प्रदर्शन करदे, वही साधक समाज की दृष्टि में सबसे उच्च श्रेणी का कलाकार है। शास्त्रीय संगीत की जटिल आलाप, तानों को साधारण-समाज न तो आज तक समझ पाया है और न समझने की आवश्यकता ही मानता है।

शास्त्रीय-संगीत का उपयोग समाज में दो प्रकार से होता आया है। एक प्रकार वह है, जिसमें संगीत भक्ति-भावना के लिए किया जाता है। ऐसे संगीत में शास्त्रीय-पक्ष का स्थान बहुत ऊंचा है। इस प्रकार के संगीत की व्यवस्था मन्दिरों देवालयों, तथा भागवत कथा आदि अवसरों पर धार्मिक-महत्व के लिए की जाती है जबकि दूसरे प्रकार का संगीत मात्र कलाबाजी के लिए ही प्रचलित है।

मात्र कलाबाजी एवं महफिलबाजी के संगीत को संगीत-विद्वानों ने शिक्षण-संस्थाओं पर एक विषय के रूप में थोप दिया है। संगीत-विद्वान् इस बात से चौंकेंगे किन्तु निश्चय ही ठोस सत्य इस बात के पीछे छुपा हुआ है। शिक्षा-शास्त्रियों के लिये निम्न प्रश्न विचारणीय हैं—

(१) कल तक जो संगीत कोठों पर गाया जाता था, उसमें और इन संस्थाओं के संगीत में क्या अन्तर है ?

(२) जो कलाकार उन कोठों पर शिक्षा देते थे, क्या आज वे इन शिक्षण-संस्थाओं में अध्यापक नहीं हैं ?

(३) कल का दोषपूर्ण संगीत आज शुद्ध एवं सात्विक किन कारणों से मान लिया गया ?

जब हम उपर्युक्त प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तो हमारे सामने संगीत का पूर्ण ढांचा स्पष्ट हो जाता है।

आज के संगीत में उन्हीं कलाकारों की छाप स्पष्ट है जिन्होंने इसे बाजारु कोठों की गायिकाओं के लिये सुरक्षित माम रखा था।

आज भी संगीत की उच्च शिक्षा देने के लिए वे ही उस्ताद हैं, जिनसे समाज घृणा करता था।

जो दोष संगीत में तथा उस्तादों में उस युग में थे, आज भी वे उसी प्रकार मौजूद हैं फिर इन सब बातों को जानते हुए भी संगीत-विषय को दोष रहित मानने का दावा किस आधार पर किया जा सकता है ? जिन विद्वानों ने संगीत का घृणित रूप में समाज को ज्ञान कराया, वे ही इस कार्य को स्वयं अपना कर सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी किस प्रकार माने जा सकते हैं ?

संगीत और शिक्षण संस्थाएं

स्वतन्त्रता के पश्चात् संगीत शिक्षा में भी एक नया मोड़ आया। जिस संगीत की शिक्षा को प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी को उस्तादों के घर भटकना पड़ता था, उसकी आज तनिक भी आवश्यकता नहीं रह गई है। संगीत को शिक्षा के साथ एक विषय के रूप में स्थान दे देने के कारण संगीत का प्रारम्भिक ज्ञान प्रत्येक बालक को इन शिक्षण-संस्थाओं में हो जाता है। उच्च ज्ञान के लिए संगीत विषय की संस्थाएं अलग-अलग प्रान्तों में कार्य कर रही हैं, जिनसे हजारों बालक-बालिकाए प्रति वर्ष इस विषय का लाभ उठा रहे हैं।

शिक्षण-संस्थाओं में संगीत विषय सर्वथा नया है। संगीत विषय के लिये न तो कोई वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली ही है और न कोई संगीत शिक्षाशास्त्र की पुस्तकें ही। शास्त्रीय-संगीत के नाम पर जो ज्ञान बालकों को कराया जाता है, वह परम्परागत शिक्षा-प्रणाली से प्रभावित होने के कारण इन संस्थाओं के लिये उपयुक्त नहीं है। वर्तमान में जो ग्रन्थ तथा पाठ्य पुस्तकें निर्धारित की हुई हैं, वे सब रागों की बन्दिशों का संग्रह मात्र होने के कारण इन संस्थाओं के बालकों के लिए लाभदायक नहीं है।

विद्यालयों में संगीत को अनिवार्य विषय बनाने का एक मात्र उद्देश्य यही है कि बालक शिक्षा के साथ साथ संगीत का भी ज्ञान प्राप्त कर सके। संगीत के महत्व को प्रत्येक व्यक्ति जानता है और वह इसका आनन्द भी उठाना चाहता है। किन्तु यह विद्या अयोग्य लोगों के पास रहने के कारण इसका लाभ सभ्य-समाज को जरा भी प्राप्त नहीं हो सका है।

संगीत शिक्षण सम्बन्धी समस्याएं

संगीत विषय को शिक्षा के साथ स्थान देने मात्र से ही संगीत की सही शिक्षा नहीं हो सकती और न उसका उचित लाभ ही विद्यार्थी को हो रहा है। संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्याएं हैं। उनका समाधान किये बिना शैक्षणिक-विकास नहीं हो सकेगा। इसके लिये हमें निम्न बिन्दुओं पर विचार करना अति आवश्यक है:—

१. शिक्षण-संस्थाओं का संगीत पाठ्यक्रम वैज्ञानिक तथा आयु वर्ग को ध्यान में रख कर बनाया जावे।

२ प्रत्येक संगीत-शिक्षक के लिये प्रशिक्षण की व्यवस्था हो।

३ शिक्षण संस्थाओं की शिक्षा-प्रणाली परम्परागत तथा पेशेवर कलाकारों से प्रभावित न हो।

४. केवल कलाकार को संगीत-शिक्षक की मान्यता न दी जावे।

५ संगीत-विद्वानों द्वारा वैज्ञानिक आधार पर लिखी हुई पाठ्य-पुस्तकों की व्यवस्था हो।

६. ध्वनि ज्ञान तथा लय ज्ञान के लिये शिक्षण-संबंधी उपकरणों की उचित व्यवस्था हो।

७ शास्त्रीय-संगीत के क्लिष्ट तानालाप एवं बन्दिशों के स्थान पर सरल सुगम, वैज्ञानिक प्रणाली तथा सामूहिक शिक्षा-विधि को, अपनाया जावे।

आज अच्छे गायक या नर्तक को संगीत-अध्यापक के स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता है। इन कलाकारों ने बड़े बड़े समारोहों में प्रदर्शन कर नाम कमाया है, इन्होंने संगीत की साधना की है, अतः सबसे योग्य एवं अनुभवी शिक्षक इनसे बढ़ कर कोई नहीं है, इसी धारणा को लेकर बाल-मन्दिरों से लेकर उच्च संगीत-संस्थानों तक में इन कलाकारों के लिये शिक्षा देने हेतु स्थान सुरक्षित रहता है। परन्तु परम्परागत-कलाकार शिक्षण-संस्थाओं में कहाँ तक सफल सिद्ध हो सकते हैं, इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक है।

परम्परा या घराना

जिन व्यक्तियों का परम्परागत कार्य गाना बजाना तथा नाचना रहा है और जिन्होंने अपनी कला-साधना से भारतीय स्तर पर ख्याति प्राप्त कर

कला-जगत् में अपनी अमिट छाप छोड़ दी हो, ऐसे कलाकारों से शिक्षा-ग्रहण करने वाले विद्यार्थी घराने के कलाकार कहलाते हैं। घराने की शिक्षा का ध्येय अपनी परम्परागत गायन-शैली को विद्यार्थी के कण्ठो में उतार देना रहा है। ऐसी विशेष-शैली का अभ्यास करने के लिये गुरू अथवा उस्तादों के आधीन रह कर योग्यता प्राप्त की जा सकती है। घराने के उस्ताद पेशेवर-कलाकार उत्पन्न करते हैं। परन्तु शिक्षण-संस्थाओं के लिए घराना-पद्धति किसी भी दशा में उपयोगी नहीं मानी जा सकती। घराने का नाम लेते ही निम्न बातें हमारे सामने आती हैं—

१. कलाकार के प्रदर्शन का तरीका क्या होगा ?
२. राग सजाने में क्या क्या विशेषताएं होंगी ?
३. तानालाप गाने में क्या क्या विशेषताएं होंगी ?

इस प्रकार उक्त घराने संबंधी सभी चित्र हमारे सामने आ जाते हैं जिनके बारे में कहा जा सकता है कि अमुक घराने का कलाकार क्या है और क्या हो सकता है ? प्रत्येक घराने की एक विशिष्ट परम्परा होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। घराने के संचालक इस परम्परा में जरा भी परिवर्तन करने को तैयार नहीं होते।

घराने का प्रभाव

कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी घराने से सबंधित हो, उसमें उक्त घराने के लक्षण आ ही जाएंगे, जिनको वह सीखना नहीं चाहता। परिस्थितियों का प्रभाव उक्त विद्यार्थी पर पड़े बिना नहीं रह सकेगा। गुरू अथवा उस्ताद की विशेष आदतों को भी वह किसी न किसी रूप में ग्रहण कर ही लेता है। अच्छे गुरूओं के सम्पर्क में रह कर विद्यार्थी चरित्रवान् बन जाता है। अच्छी परिस्थितियों में बालक का विकास होता है तथा प्रतिकूल परिस्थिति बालक के ह्रास का कारण बन जाती है। घराने के कलाकारों में अशिक्षा के कारण अनेक बुराइयां भी मिल सकती हैं, जिनके कारण उनका स्थान समाज में एक निश्चित सीमा तक ही रहता है। इस प्रकार उच्च साधना के साथ कलाकार में अन्य अवगुण अधिक होने के कारण उसका स्थान महफिल तक ही रह गया है।

अगर कोई विद्यार्थी घराने की कला को सीख कर उचित अभ्यास नहीं करता या किसी कारणवश साधना से वंचित रह जाता है तो ऐसा विद्यार्थी समय पाकर दूसरे घराने की शैली को अपना सकता है। यदि उसके सम्पर्क में कोई

दूसरा कलाकार आ गया तो धीरे धीरे परिवर्तन के साथ उसकी शैली एक पृथक रूप धारण कर लेती है और समय पाकर वह एक नई शैली या घराने का निर्माण कर देता है।

संगीत संस्थाओं की शिक्षा प्रणाली

संगीत को संस्थागत रूप देने का श्रेय स्व० पं. विष्णुनारायण भातखण्डे तथा पं० विष्णुदिगंबर पलुस्कर को है। संगीत-संसार मे इन दोनो विभूतियों ने जो पृथक परिश्रम करके इस कला को सभ्य समाज तक पहुंचाया, वह कभी भुलाया नही जा सकता। इन दोनो महापुरुषों ने अपने अपने ढग से संगीत का प्रचार किया, जिसका उत्तम परिणाम आज हमारे सामने है। उत्तर भारतीय संगीत की शैक्षणिक विधि मे इन्हीं महानुभावो के द्वारा प्रवर्तित एव प्रसारित स्वरांकन-पद्धतियो के आधार पर कार्य हो रहा है। संगीत शिक्षा-जगत् मे एक भातखण्डे-पद्धति तथा दूसरी विष्णुदिगंबर-पद्धति के नाम से प्रचलित है। दोनों ही प्रणालियों का एकमात्र उद्देश्य यही रहा है कि घराने की बन्दिशों का अधिक से अधिक उच्च वर्ग के लोगों को ज्ञान कराया जावे। इसके लिए इन्होंने निम्न कार्य किये—

१. संगीत संस्थाओं की स्थापना।
२. संगीत का पाठ्यक्रम तथा उसके ज्ञान की निर्धारित अवधि।
३. संगीत की शास्त्रीय एव क्रियात्मक परीक्षा-प्रणाली।
४. सामूहिक-शिक्षा के लिए स्वरांकन-विधि का आविष्कार।
५. संगीत के मतमतान्तरों को समाप्त करने के लिए सम्मेलन।
६. संगीत सम्बन्धी प्रकाशन कार्य।
७. घराने की बन्दिशों का संकलन।
८. योग्यता-प्राप्त संगीत शिक्षक, विद्वान् एवं कलाकार तैयार करना।

संगीत के प्रचार मे इन दोनों विद्वानो ने जो परिश्रम किया, उसी का परिणाम है कि आज संगीत विषय को शिक्षा के साथ स्थान प्राप्त हो सका है। परन्तु इतना होने पर भी अभी तक शास्त्रीय-संगीत का स्थान जन-मानस मे नहीं बन पाया है। इसका भी कारण है। सर्व प्रथम हम उपर्युक्त दोनो पद्धतियों के बारे में विचार करते हैं।

भातखण्डे पद्धति के लाभ

१. घराने की बन्दिशों का पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सकना।

२. एक ही साथ कई विद्यार्थियों को ज्ञान प्राप्त होना।

३. वर्षों तक के उस्तादों के चक्कर से छूट कर निश्चित अवधि में ज्ञान प्राप्त होना।

४. सभ्य समाज में संगीत के प्रति श्रद्धा होना।

५. संगीत संस्थाओं की स्थापना और योग्य संगीत-अध्यापकों का तैयार होना।

६. मतमतान्तर के झगड़ों का समाप्त होना तथा श्रोताओं एवं विद्वानों की संख्या में वृद्धि।

७. समय तथा धन का कम व्यय होना।

भातखण्डे प्रणाली की कमियां

१. संगीत का साधना पक्ष कमजोर हो गया।

२. घराने के कलाकारों का व्यवसाय समाप्त हो गया।

३. बड़े ख्यालों के अलावा अन्य बन्दिशें गौण हो गईं।

४. शास्त्रीय संगीत अरुचिकर बन गया।

५. बालक वर्ग संगीत-शिक्षा से उपेक्षित रह गया।

६. संगीत में प्रशिक्षित शिक्षक-प्रणाली का अभाव।

७. इनकी पुस्तकें प्रारम्भ में मराठी भाषा में होने के कारण केवल उसी प्रान्त के लोगों को अधिक लाभ हुआ।

विष्णुदिगंबर प्रणाली के लाभ

१. स्वस्थ संगीत का प्रचार हुआ।

२. सामूहिक संगीत शिक्षा का विकास हुआ।

३. संगीत संस्थाएं, योग्य कलाकार, शिक्षक एवं विद्वान् तैयार हुए।

४. प्रायोगिक पक्ष को प्रधानता मिली।

५. संगीत में धार्मिक एवं सात्विक पक्ष पनपा।

विष्णुदिगंबर प्रणाली की कमियां

१. स्वरांकन-पद्धति का कठिन होना।

२. संगीत में अच्छे साहित्य का अभाव।

३. मौलिक पाठ्यक्रम का अभाव।

मनोवैज्ञानिक संगीत शिक्षण की आवश्यकता

संगीत की शिक्षा संस्थाओं में दी जानी आवश्यक है, इस बात पर सभी एक मत हैं किन्तु इस शिक्षा को सोचने का दृष्टिकोण सबका पृथक् पृथक् है। प्रत्येक विषय की शिक्षा में अध्यापक, शिक्षा विभाग तथा समाज इन तीनों का एक ही उद्देश्य होने पर वह विषय दिन प्रति दिन उन्नति करता है और उस ज्ञान से बालक को लाभ होता है। संगीत विषय के लिये इन तीनों का सोचने का तरीका भिन्न होने से आज तक यह विषय अनिवार्य होने पर भी हितकर नहीं हो सका है। इन तीनों के विचार संगीत-शिक्षा के प्रति निम्न प्रकार से पाये जाते हैं।

संगीत अध्यापकों का दृष्टिकोण

अब तक संगीत अध्यापकों का दृष्टिकोण एक मात्र यही रहा है कि जो बालक संगीत में रुचि लेता है अथवा जिसमें स्वर-ताल को ग्रहण करने की प्रतिभा है, वह सिर्फ संगीत को ही अपना प्रमुख विषय बनाले। शिक्षण संस्थाओं में सिर्फ संगीत को प्रमुख तथा अन्य विषयों को गौण करना किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता, इस बात को संगीत–अध्यापक समझने की जरा भी चेष्टा नहीं करता। वह संगीत शिक्षक है, इसलिये समस्त वातावरण संगीतमय बना देना चाहता है। परन्तु शिक्षण संस्थाओं में संगीत केवल एक विषय मात्र है। संगीत का स्थान प्रति कक्षा के लिये सिर्फ एक कालांश का होता है, इसको ध्यान में रख कर शिक्षा देने की संस्थाओं में आवश्यकता है। संगीत अध्यापकों के विचार अपने विषय-शिक्षण के प्रति निम्न प्रकार से पाये जाते हैं—

१. संगीत-शिक्षा के लिए समय का प्रतिबन्ध नहीं हो।

२. कक्षाओं के अनुसार छात्र-संख्या का प्रतिबन्ध न रहे।

३. पाठ्यक्रम का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये।

४. संगीत के सभी प्रकार के वाद्य यंत्र संस्था में होने चाहिये।

५. संगीत-शिक्षक के साथ एक सहायक तबला-वादक अवश्य रहे।

६. संगीत-शिक्षा की जाँच प्रदर्शनों के कार्यक्रमों के आधार पर होनी चाहिये।

७. संगीत-शिक्षा सम्बन्धी निरीक्षण संगीत-विद्वानों के अतिरिक्त अन्य कोई न करे।

शास्त्रीय संगीतकला के अध्यापकों को उपर्युक्त सुविधाएं प्राप्त करा देने पर वे इस विषय की उचित शिक्षा दे सकते हैं और अच्छे से अच्छे उच्चकोटि के कलाकार बना सकते हैं, ऐसा उनका विचार है।

शिक्षा विभाग का दृष्टिकोण

१. प्रत्येक बालक को संगीत का ज्ञान कराया जावे।

२. निश्चित पाठ्यक्रमानुसार शिक्षा दी जावे।

३. निश्चित समय एवं अवधि को ध्यान में रख कर शिक्षा दी जावे।

४. शिक्षा में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया जावे।

५ सत्र के अन्त में शिक्षण-कार्य का मूल्यांकन परीक्षा प्रणाली किया जावे।

६. संगीत-शिक्षा सम्बन्धी आवश्यक साधन संस्था को दिये जावें।

इस प्रकार शिक्षा-विभाग संगीत विषय को भी अन्य विषयों के समान मान कर प्रत्येक बालक के लिए इस विषय की शिक्षा व्यवस्था करने का विचार रखता है और उसी के अनुसार उसके परिणाम की आशा रखता है।

सामाजिक दृष्टिकोण

समाज की दृष्टि में संगीत सिर्फ प्रायोगिक विद्या है। अधिक से अधिक प्रदर्शन तथा स्वर-ताल में चमत्कार पूर्ण बन्दिशों को सुनाने वाला विद्यार्थी ही संगीत-शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति कर देता है। समाज ने आज तक संगीत का एक ही पक्ष अपनाया है और उसी के अनुसार उसकी रुचि एकतरफा बन गई है। आज तक समाज संगीतको सि-प्रदर्शनात्मक [illegible] कला के माध्यम से मनोरंजन [illegible] को पढ़ने वाला

प्रत्येक विद्यार्थी कलाकार बन कर निकले। परन्तु शिक्षण संस्थाओं से संगीत शिक्षा द्वारा कलाकारिता के रूप में परिणाम की आशा रखना शिक्षा-सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत बात है।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर प्रत्येक विद्वान् सोच सकता है कि ऐसी स्थिति में संगीत-शिक्षा बालक के लिये सफल किस प्रकार सिद्ध हो सकती है। हम अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान शिक्षक बालकों में संगीत के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध नहीं हो रहे हैं। शिक्षण संस्थाओं में दिखावे मात्र के लिये संगीत-अध्यापक रखे जाते हैं परन्तु उनसे समाज को उचित लाभ नहीं मिल रहा है।

संगीत शिक्षा की स्थिति

संगीत की शिक्षा मौखिक परम्पराओं पर आधारित रही है। ख्याति-प्राप्त कलाकार के कौशल का अनुकरण कर उसे ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना ही इस विषय की शिक्षा का मुख्य ध्येय रह गया है। मुगल काल से चली आ रही रूढ़िगत परम्पराओं ने इस विषय के विकास में बाधा उपस्थित की है। राग-ताल का विस्तार करना, गले में वैचित्र्य उत्पन्न करना, तान-आलाप की सफाई, माधुर्य एवं तैय्यारी सहित प्रस्तुत करने का कौशल ही संगीत-शिक्षा का ध्येय बन गया है।

व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकता को देखते हुए संगीत शिक्षण-व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हो रही है। मध्यकालीन गायन-शैलियां अमीरों तथा राजाओं के मनोरंजन के लिए महल-दरबारों की शोभा हो सकती है किन्तु प्रजातन्त्र में इसका क्या उपयोग हो सकता है, यह विचारणीय प्रश्न है?

संगीत शिक्षा कलाकार का निर्माण करती है। परन्तु आज का गायक एक ऐसा कलाकार है, जो कुशलता से तो सम्पन्न है लेकिन उसका उपयोग समाज हित में नहीं हो रहा है। चित्रपट, आवागमन एवं सूचना-प्रसारण आदि वैज्ञानिक-उपकरणों की उन्नति के फलस्वरूप संगीत के श्रोता का बौद्धिक-स्तर भी उन्नत हुआ है। रंगमंच-व्यवस्था भी आधुनिक उपकरणों से समृद्ध हुई है। आज विदेशी संगीत श्रोताओं के मस्तिष्क पर छाता जा रहा है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि शास्त्रीय-गायन की परम्परा और उसका प्रस्तुतीकरण अपनी पूर्व-शैली से विशेष भिन्न नहीं हुआ है। वर्तमान में राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक

अवस्थाएं परिवर्तित हो चुकी हैं। धर्म के प्रति भी पूर्ववत् दृष्टिकोण नहीं रहा है। मनुष्य का दैनिक-जीवन तथा कार्य-विधि आदि सभी में अन्तर आया है। बौद्धिक उन्नति के कारण आज का मानव ललित-कलाओं में भी उपयोगिता खोजता है। शास्त्रीय संगीत में व्याप्त शक्तियों को प्राप्त करने एवं उसका उपयोग करने की उसकी इच्छा प्रबल होती जा रही है।

आज का श्रोता भावों का सौन्दर्य भी स्वभाविकता से ही सुनना पसन्द करता है। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय-संगीत की परम्परागत शैली कैसे सफल हो सकती है? शास्त्रीय गायन में प्रयुक्त काव्य एवं उसे प्रस्तुत करने की विधि से तो आज का श्रोता बहुत ही असन्तुष्ट है। राग एवं ताल-विस्तार को सहन करने की उसमें कम क्षमता है। गीत की द्रुत-गति में अवश्य उसका मन थोड़ी देर के लिए चंचल हो उठता है किन्तु इतने में ही शास्त्रीय-संगीत को सफल नहीं कहा जा सकता। प्रायः देखा गया है कि शास्त्रीय संगीत सुनने में श्रोता तन्मय नहीं रहते। गायक श्रोताओं की ना समझी पर दुःख प्रकट करते हैं और श्रोता गायक की दमफलता पर हंसते हैं।

यह तो हुई साधारण श्रोता की बात किन्तु एक गायक भी दूसरे गायक को नहीं सुनना चाहता। यदि वह सुनता भी है तो उसे पसन्द नहीं करता। देखा अनेक गायक कुछ-एक शब्दों को ही अपने अनुकूल एवं श्रेष्ठ समझते हैं।

शास्त्रीय संगीत में चाहे कितने ही घराने क्यों न हों, उनके प्रस्तुत करने के ढंग में समानता ही पाई जाती है। यहां गुण है तो कलाकार के कौशल का है जिसे प्रदर्शित कर वह कोई शैलीगत परम्परा स्थापित करता है। गायक के कौशल में श्रोता स्वर को प्रस्तुत करने की कल्पना, तैयारी, सफाई एवं मधुरता के गुण देखता है। गायक शास्त्रीय-नियमों के अनुचित प्रयोग से आए गायन-दोष के दृष्टि पाने के लिये अपना मत स्थापित कर देता है। इस परम्परा से गायन का शास्त्रीय-पक्ष भी मौलिक-शास्त्र बन गया है। फलस्वरूप प्रतिद्वंदिता एवं वैमनस्य पूर्ण मत-मतान्तरों का बोझ-बामा इस विषय में आ गया।

स्वर-ज्ञान की तैयारी की होड़ में गीत का भाव-पक्ष तो गौण हुआ ही, साथ ही शास्त्र से अनभिज्ञ और शारीरिक श्रम में समर्थ व्यक्ति इस क्षेत्र में आए। शारीरिक स्वर-बल के कारण इनके मौलिक-शास्त्र ने विद्वान्-शास्त्रकारों को पछाड़ कर स्वर-ज्ञान की साधना एवं उन्हें प्रयोग करने संबंधी शक्तियों का प्रदर्शन आरम्भ कर दिया। राजतन्त्र ने इन कलाबाजों को प्रोत्साहन दिया और आज भी

ये अपनी साधना-शक्ति को समाज एवं शिक्षा पर थोपे हुए हैं।

प्रत्येक देश शिक्षा के सभी विषयों में वैज्ञानिक पद्धति को विशेष देता है तथा उसी दृष्टिकोण से विचार करता है। परन्तु हमारे देश में सं शिक्षण के लिए आज तक ऐसी प्रणाली का रूप सामने नहीं आ पाया है। संगीत-शिक्षक इस प्रयत्न में लगा रहता है कि वह जल्दी से अपने शिष्य को तैयार करदे कि वह बड़े से बड़े कलाकार से टक्कर ले सके, जिससे शिष्य के गुरू की प्रतिष्ठा भी बढ़े। इस प्रकार के विचार तथा व्यवहार के कारण शि संस्थाओं को संगीत से कोई लाभ नहीं मिल पाया है। और विद्यालयों में उस्त तथा परम्परागत शिक्षा बेकार सिद्ध हो चुकी है।

संगीत के विद्वानों ने भातखण्डे तथा विष्णुदिगंबर पद्धति से न सोचा है और न सोचने का प्रयत्न ही कर रहे हैं। इन्ही दोनों पद्धतियों आधार पर प्राथमिक शालाओं के बालकों को शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा है, जिससे कुछ ही समय बाद शिक्षक तथा बालक दोनों ही निराश से दिखला देते हैं।

संगीत के आचार्यों के पास इस कला को सीखाने का सरल एवं सुग तरीका न होने के कारण इस विषय का ज्ञान प्राप्त करना कठिन बन गया है अगर धीरे धीरे ज्ञान कराने के तरीकों में संशोधन कर दिया जावे तो संगीत-शिक्षा इतनी कठिन नहीं, जितनी इसको माना जाता रहा है। इसे कठिन विद्या मानने वाले व्यक्तियों द्वारा संगीत-शिक्षक के रूप मे कार्य करना सफल नहीं हो सकता। प्राथमिक-शालाओं की शिक्षा के लिए शिक्षक को सरल से सरल उपाय खोज कर स्तर के अनुसार शिक्षा देने पर ही विद्यार्थियों का भला हो सकता है।

सर्व प्रथम संगीत से बालक को परिचित कराना ही उसे संगीत का ज्ञान कराना है। संगीत शिक्षा में मुख्यतः दो बातें प्रधान होती हैं-एक स्वर तथा दूसरा ताल। इन दोनों की साधना एव जानकारी उचित रूप से करादी जावे तो वह विद्यार्थी आगे चलकर एक अच्छा संगीतज्ञ बन सकता है। परन्तु संगीत में क्रमानुसार अवस्था के अनुसार शिक्षा देने की विधि न होने के कारण विद्यार्थी की रुचि बराबर बनी नहीं रह पाती और उच्च स्तर तक पहुंचने के लिये समय भी अधिक लगता है। संगीत-शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ एक अच्छा कलाकार बनाने तक ही नहीं होना चाहिये। संगीत के द्वारा चरित्रवान नागरिक बन कर राष्ट्र निर्माण में कलाकार का पूर्ण सहयोग रहे, तभी उसका जीवन सार्थक हो सकता है।

आज जिस रूप से संगीत की शिक्षा हो रही है, बारम्बार समाज के प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख यह प्रश्न आता है, कि ये संगीत-शिक्षक क्या है और क्यों सरकार इस विषय के लिये समय तथा पैसा लगा रही है ? जीवन में इसका क्या उपयोग होगा तथा समाज को इससे क्या लाभ मिलेगा ? ऐसे अनेक प्रश्न जन-साधारण के सामने है । अब वर्तमान संगीत शिक्षा के प्रति लोगों की यह भावना है तो उसमें नवीन मोड़ देना अत्यन्त आवश्यक है । बिना समाज के सहयोग तथा सहानुभूति के इसमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती ।

संगीत-शिक्षा का साधारण उद्देश्य यह है कि बालक स्वरों के विभिन्न उतार-चढ़ाव का ज्ञान कर उनका लय व ताल में प्रयोग कर सके । प्रत्येक बालक अपने भावों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा किसी न किसी रूप में करता है । संगीत के द्वारा की गई भावाभिव्यक्ति से बालक को सहज स्वतन्त्र एवं अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, जो उसके नैतिक-जीवन के लिये अत्यन्त लाभदायक है । अतः प्रारम्भ से ही बालक के जीवन में स्वस्थ संगीत के संस्कार बन जाने चाहिये । इन सस्कारों को बालक के जीवन में ढालने के लिये शिक्षण-संस्थाएं सबसे उत्तम साधन हैं जहां विषय के रूप में धीरे धीरे संगीत का ज्ञान कराया जा सकता है । विद्यालयों में संगीत-विषय की सबसे बड़ी सार्थकता बालक के लिये यही मानी गई है । आगे जाकर इस ज्ञान को वह किस रूप में अपनायेगा अथवा क्या करेगा, यह सब शिक्षक एवं शिक्षा-शास्त्रियों के सोचने का काम नहीं है ।

विद्यालयों में संगीत की शिक्षा देने के लिये संगीतज्ञ को एक अध्यापक के रूप में कार्य करना है । संगीत का अध्यापक अगर इन संस्थाओं में कलाकार के रूप में कार्य करता है तो वहां की शिक्षा उचित रूप से नहीं हो पाती और बालक इसके ज्ञान से अनभिज्ञ रह जाते हैं । कला का स्थान समाज में बहुत ऊंचा है किन्तु कलाकार का जीवन दोषपूर्ण रहने के कारण समाज में वह पृथक् रहता आया है । जब समाज में दोषपूर्ण व्यक्ति घुस जाते हैं तो वह विषय बिगड़ जाता है और उससे समाज का अहित होता है ।

संगीत की सही शिक्षा देने के लिये सच्चरित्र एवं अध्ययन-शील अध्यापकों की आवश्यकता है, जो बालकों को मनोवैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा शिक्षा दे सकें । वर्तमान समय में जिस रूप से विद्यार्थियों के कण्ठों में स्वर-लय को ठूंसने का प्रयत्न किया जा रहा है, इससे विषय के प्रति अरुचि उत्पन्न होती जा रही है किसी भी बात की जानकारी देने के लिये सरल एवं

है। घराने की कला अगर वास्तव में अपनाने योग्य है तो उसकी जानकारी देने के लिये और भी बहुत से उपाय ढूंढे जा सकते हैं। किन्तु जबरन किसी के ऊपर थोप कर उस कला को सर्वश्रेष्ठ कहलाने का प्रयत्न करना समाज तथा संगीत दोनों के साथ अन्याय है।

संगीत के विद्यार्थी को, चाहे वह किसी आयु का हो, सर्व प्रथम स्वरों की साधना तालबद्ध करवायी जाती है। इस साधना का वास्तविक आनन्द तो किसी किसी को ही प्राप्त होता है किन्तु इसकी साधना से घबराकर इस विषय को छोड़ने वालों की संख्या बड़ी होती रही है। संगीत को जितना सुनने से आनन्द मिलता है, सीखने का प्रयत्न करने पर वह उतना ही करीब मालूम होता है। बारम्बार एक ही तरह के स्वरों को सही करने के लिये जो अभ्यास किया जाता है, उस आवाज से आस पड़ोस के लोग भी परेशान से हो जाते हैं।

आज संगीत शिक्षा के नाम पर कई पुस्तकें तथा ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और हो भी रहे हैं। इनको देखने से पता चलता है कि सभी संगीत-विद्वान् एक ही प्रकार के प्रयत्न में लगे हुए हैं। शास्त्रीय-संगीत को प्रायोगिक विद्या माना है और इसी पक्ष को ध्यान में रख कर पुस्तकें तैयार होती हैं। अगर यही कार्य संगीत शिक्षा-शास्त्र को ध्यान में रख कर किया जावे तो विद्यालयों में संगीत विषय को पढ़ाने की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

विद्यालयों में संगीत की शिक्षा देने का कार्य तभी सफल हो सकता है जब संगीतज्ञ मतमतान्तरों एवं घरानेवाद को दूर कर नवीन पाठ्यक्रम के आधार पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शिक्षा देवें। हमारे देश में संगीत पर घरानेवाद का प्रभाव होने के कारण पढ़े-लिखे संगीतज्ञ भी इससे पृथक् नहीं हो पा रहे हैं। जब तक शिक्षा-प्रणाली में सुधार नहीं किया जाएगा, शिक्षण संस्थाओं में संगीत सफल नहीं हो सकेगा। संगीत का विद्यार्थी उपाधि अवश्य प्राप्त कर लेगा किन्तु उसका ज्ञान तथा अभ्यास दोनों ही सीमित होंगे। संगीत-शिक्षण एवं स्तर में एक रूपता लाने के लिये कम से कम प्रारम्भिक शालाओं में तो नवीन एवं वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा ही शिक्षा देना उचित होगा।

संगीत-शिक्षा के नाम पर दो प्रकार के प्रयत्न आज तक किये गये हैं। प्रथम प्रयत्न है संस्थाओं द्वारा शिक्षा देना, जिससे कि अधिक से अधिक लोग लाभ उठा सकें। दूसरा प्रयत्न है संस्था में एक साथ अनेक विद्यार्थियों को लाभ

हो, इसके लिये स्वरांकन पद्धति द्वारा संगीत की शिक्षा दी जाती है। प्रथम प्रयत्न संगीत-शिक्षा के लिये सबसे उत्तम साधन है किन्तु इन संस्थाओं में सिखाने के लिये सिर्फ स्वरांकन पद्धति ही पूर्ण सहायक है, यह आधार मान लेना शिक्षा-सिद्धान्त से पृथक् हो जाना है। संगीत का स्वरूप उत्तर भारत में एक ही समान है। शास्त्रीय-संगीत के नाम पर गाई-बजाई जाने वाली रागों एवं तालों में कोई अन्तर नहीं है और रागों की रचनाओं में भी कोई मतभेद नहीं है, फिर भी स्वरांकन पद्धति में विभिन्न मतमतान्तर होने से इस आनन्द देने वाली कला में विवाद का प्रश्न खड़ा क्यों किया जावे ? अगर स्वरांकन पद्धति ही संगीत-शिक्षा को आगे बढ़ाने में पूर्ण रूप से सहायक होती तो आज विद्यालयों के संचालकों एवं प्रधानाचार्यों के लिए संगीत विषय को एक व्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली के रूप में अपनाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रहती।

प्रतिदिन का कार्यक्रम, जो विद्यार्थियों के लिए किसी विषय में निर्धारित होता है, उसी के अनुसार छात्रों की प्रगति की जानकारी प्रधानाचार्य तथा अभिभावक करते हैं किन्तु संगीत विषय में जो कुछ सीखा जाता है, उसका परिणाम मंच-प्रदर्शन के द्वारा ही जाना जा सकता है। मंच-प्रदर्शन का कार्यक्रम विशेष अवसर तथा विद्यालय के उत्सव के समय किया जाता है। ऐसे आयोजनों को सफल बनाने के लिये संगीत विषय के योग्य छात्र-छात्राओं को छांट कर एक, दो माह तक खूब तैयारियां कराई जाती हैं, जिससे कि आयोजन सफल हो सके।

यदि संगीत विषय की शिक्षा पर-जिसके लिये एक अध्यापक भी पूरे समय के लिये विद्यालय में रखा जाता है, विचार किया जाए तो मालूम होगा कि संगीत का कक्षा-कार्य नहीं के समान ही है। अधिकतर ऐसा पाया गया है संगीत-अध्यापक सिर्फ आयोजन के समय पूर्ण रूप से गाने बजाने की तैयारी करा देते हैं और शेष दिनों में वे अन्य विषयों की कक्षाओं को पढ़ाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि उनके पास संगीत हेतु कोई ऐसी शिक्षा-विधि नहीं है, जिसके आधार पर वे एक कुशल अध्यापक के रूप में अपने विषय को पढ़ाने में सफल हो सकें। अतः संगीत-शिक्षा प्रणाली में आवश्यक संशोधन कर मनोवैज्ञानिक शिक्षण प्रणाली को अपनाना नितान्त आवश्यक है।

संगीत और बालक

आज प्राथमिक शालाओं में संगीत विषय अनिवार्य है किन्तु इन संस्थाओं में शिक्षकों की व्यवस्था न होने के कारण संगीत की शिक्षा बिलकुल ही नहीं हो पाती और संगीत-शिक्षा तथा परीक्षा का कार्य अन्य विषय के अध्यापक को करना पड़ता है, जिसने कभी अपनी स्कूली-शिक्षा के समय गुनगुनाया होगा। इससे छात्रों को इस विषय का कोई लाभ नहीं मिलता और संगीत का शिक्षा में स्थान सिर्फ पाठ्यक्रम के कागजों तक ही सीमित रह जाता है। ऐसे पाठ्यक्रम से शिक्षा-विभाग अपनी प्रतिष्ठा अन्य प्रान्तों में अवश्य बढ़ा सकता है किन्तु वास्तविक लाभ कुछ भी नहीं हो पाता।

बाल-मन्दिरों में संगीत-शिक्षण का कार्य होता है किन्तु वहां कोई मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता, जैसा कि वहां अन्य विषयों के लिए होता है। शास्त्रीय-संगीत की शिक्षा को संगीतज्ञों ने दस वर्ष से कम आयु के बालकों के लिए उपयोगी नहीं माना है, इसी कारण आज तक बाल-वर्ग के लिए संगीत विषय की न किसी संस्था का निर्माण हुआ और न मनोवैज्ञानिक पाठ्यक्रम ही तैयार किया गया।

शिक्षा-शास्त्रियों के मतानुसार संगीत-शिक्षण बाल-वर्ग के लिये अति आवश्यक समझा गया है। बाल-मनोविज्ञान के आधार पर चलने वाली समस्त शिक्षण-संस्थाओं में संगीत विषय को भी अन्य विषयों के समान ही महत्व दिया गया है। प्रचलित शिक्षण-प्रणालियों में किन्डर-गार्डन, मोन्टेसरी प्रणाली, बेसिक-शिक्षा, गीजू भाई प्रणाली आदि सभी ने संगीत विषय को बालकों के लिए आवश्यक समझ कर शिक्षा के साथ स्थान दिया है।

इस प्रकार संगीत को शिक्षण-संस्थाओं में एक विषय के रूप में स्थान मिल जाने से इस विषय का क्षेत्र बढ़ गया है और सभ्य समाज ने इसको शिक्षा का एक आवश्यक अंग मान कर अपना लिया है किन्तु संगीत शिक्षा-प्रणाली में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण संगीत के आचार्यों द्वारा न अपनाये जाने के कारण इस विषय का विकास रुका पड़ा है।

संगीत की नींव स्वर तथा ताल पर आधारित है। स्वर का सम्बन्ध ध्वनि से तथा ताल का संबंध लय (गति) से है। इन दोनों पर अधिकार प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति उच्च कलाकार माना जाता है। संगीत की शिक्षा में दोनों का बराबर स्थान है। अतः कौनसा पहले तथा कौनसा बाद में सिखाया जावे, यह तय करना अति कठिन है। स्वरों को लय में गाना ही संगीत है। प्रारम्भ से ही बालक को अवस्थानुसार इनका अभ्यास करा दिया जावे तो आगे जाकर किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आ सकती।

संगीत-शिक्षा का उद्देश्य बालक को कलाकार बनाना न होकर संगीत के माध्यम से उसके जीवन का सर्वांगीण विकास करना होना चाहिये। यदि शालाओं में सिर्फ संगीत को ही प्रधानता दे दी जायेगी तो वह बालक के जीवन का पूर्ण विकास करने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिए संगीत को एक विषय के रूप में आयु-वर्ग के आधार पर निश्चित पाठ्यक्रमानुसार शिक्षा देना ही लाभदायक है। परन्तु देखा गया है कि अधिकतर संगीत-अध्यापक प्रतिभाशाली बालक को ही विशेष समय देते हैं।

विद्यालयों में संगीत शिक्षा को बालकों के लिये मनोरंजन का साधन माना गया है। अगर संगीत के वास्तविक उद्देश्य को ध्यान में रख कर शिक्षा दी जावे तो बालकों को अन्य भी लाभ होते हैं, जिनको ध्यान में रखते हुए शिक्षा देने पर बालक का सर्वांगीण विकास हो सकता है। इसके लिए वर्तमान संगीत शिक्षण पद्धति किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं मानी जा सकती। बालकों को संगीत में वही ज्ञान कराना उचित होगा, जिन्हें वे सरलता से ग्रहण कर सकें। इसके लिये आगे बाल-शिक्षण सम्बन्धी योजना दी जा रही है।

बाल-कक्षाओं में संगीत का ज्ञान कराने के लिए हमें उन तत्वों को खोजना होगा, जिन पर संगीत की नींव बनी हुई है। भारतीय संगीत में ऐसी कोई मनोवैज्ञानिक पद्धति नहीं है, जिसके आधार पर शिक्षण-संस्थाओं को लाभ मिल सके। कलाकारिता के रूप में दी जाने वाली शिक्षा किसी भी दशा में इन

संस्थाओं में सफल नहीं हो सकती।

संगीत–शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक जो विचार व्यक्त किये जा चुके हैं, उनसे संगीत की उपयोगिता बालक के लिए कितनी आवश्यक है, यह सिद्ध हो चुका है।

प्रारम्भ में बालक को सरल एवं सुगम तरीके से स्वर और लय के माध्यम से भावाभिव्यक्त करने का अवसर देना ही संगीत–शिक्षा का सही उद्देश्य है। उच्च कक्षाओं में साधना के द्वारा संगीत में दक्षता प्राप्त कराना तथा जीवन में स्थान देने का विचार निश्चित करना उपयोगी हो सकता है परन्तु यह सब बालक की आयु तथा अनुभव पर ही निर्भर करता है।

आज के वैज्ञानिक युग में संगीत शिक्षा-विधि में नवीन प्रयोग करके मनोविज्ञान के आधार पर इसकी व्यवस्था करनी होगी तभी बालक के लिए यह विषय लाभदायक हो सकेगा। इसके लिए हमारे सामने मुख्य रूप से दो उद्देश्य रहने चाहिए—

(१) बालक में संगीत के सौन्दर्य तथा उसके कार्यों की सत्यता और चेतना उत्पन्न करना।

(२) बालक की स्वाभाविक स्वर-ताल की प्रवृत्तियों को इस प्रकार विकसित करना, जिससे कि वह पूरी लगन के साथ स्पष्ट रूप से अपनी कलात्मक शक्तियों का उपयोग कर सके।

विद्यालय और संगीत

विद्यालयों की व्यवस्था के अनुसार आज अन्य विषयों के साथ संगीत विषय की शिक्षा देने का प्रावधान है। संस्थाओं में शिक्षा देने के लिए उपाधि-प्राप्त संगीत–स्नातकों को नियुक्त किया जाता है। ये उपाधिधारी संगीत स्नातक शास्त्रीय संगीत की योग्यता प्राप्त कर शिक्षा के क्षेत्र में आते हैं परन्तु बाल-मनोविज्ञान से वे बिल्कुल ही अपरिचित होते हैं और न उनके पास ऐसी कोई योजना ही होती है, जिसके द्वारा वे बालकों में संगीत के प्रति रुचि उत्पन्न कर सकें।

अधिकारी, अभिभावक तथा अन्य प्रतिष्ठित सज्जन प्रसन्न होकर संस्था की संगीत-नृत्य विषयक शिक्षा की प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं और इसी के आधार पर संगीत-शिक्षक को कुशल, योग्य एवं अनुभवी शिक्षक मान लिया जाता है। इससे संगीत-शिक्षक को अपनी नौकरी का कोई खतरा नहीं रहता। परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि जिन बाल-संस्थाओं के प्रधानाचार्य प्रशिक्षित, कर्मठ तथा बाल-मनोविज्ञान के विद्वान् होते हैं और प्रत्येक विषय के अध्यापक से पूरा कार्य लेना जानते हैं, वे भी संगीत विषय के प्रति हमेशा चिन्तित से ही दिखाई देते हैं। उनकी चिन्ता के निम्न कारण हैं—

(१) संगीत-शिक्षक पूरी कक्षा को पढ़ाने में असमर्थ रहता है।

(२) बाल-वर्ग के लिए कोई पाठ्यक्रम एवं पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं।

(३) संगीत-शिक्षक इन कक्षाओं में पूरी रुचि नहीं लेता है।

(४) संगीत-शिक्षक की स्वयं की शिक्षा मनोवैज्ञानिक आधार पर नहीं हुई है।

(५) संगीत-शिक्षक शिक्षा से अधिक प्रदर्शन को महत्व देता है।

उपर्युक्त कारणों से संगीत शिक्षा का कार्य विधिपूर्वक न होकर आयोजनों की विशेष तैयारी तक ही सीमित रहता है। इस प्रकार संगीत की शिक्षा समस्या-पूर्ण है। इस विषय में ऐसी कोई विधि आज तक सामने नहीं आई, जिससे इसकी समस्याओं का निराकरण किया जा सके। आज का संगीत-शिक्षक स्वयं इन समस्याओं में उलझा हुआ है और उसके पास इनको सुलझाने का कोई उपाय भी नहीं है। संगीत विषय शिक्षण-संस्थाओं में होने के कारण इसको सभ्य समाज में स्थान अवश्य मिला किन्तु संगीत-अध्यापक अपना स्तर शिक्षण-संस्थाओं के अनुरूप न बना सकने के कारण सभ्य समाज में अपना स्थान विद्वानों की श्रेणी में नहीं बना पाया। इसके लिए संगीत-अध्यापक को दोषी इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि संगीत की शिक्षण प्रणाली ही इसी प्रकार से चली आ रही है, जिसके आधार पर उपाधिधारी तथा घरानावादी संगीत-अध्यापक तो दिन प्रति दिन बनते जा रहे हैं किन्तु समाज को इससे कोई लाभ नहीं मिल रहा है।

जिस रूप में आज का अध्यापक संगीत विषय का ज्ञान कराने के लिए सोच रहा है, वह किसी भी संस्था एवं अवस्था वाले विद्यार्थी को शिक्षित करने में समस्यापूर्ण ही है। आज कक्षा में जिस आधार को सन्मुख रख कर शिक्षा दी जाती है, वह आधार व्यक्तिगत शिक्षा देने तक ही उचित है। व्यक्तिगत शिक्षा

में एक ही व्यक्ति को अधिक समय देना पड़ता है और उस पर आर्थिक व्यय भी अधिक करना पड़ता है। ऐसा प्रत्येक छात्र के लिए संभव नहीं है।

बालकों में संगीत के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिये उनकी प्रान्तीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जावे, तभी संगीत शिक्षा में सफलता प्राप्त की जा सकती है। बाल-वर्ग में जो संस्कार संगीत के प्रति बन जायेंगे वे उनके जन्म भर साथ रहेंगे। अतः इस आयु की स्वस्थ संगीत शिक्षा ही उनके जीवन में लाभप्रद सिद्ध हो सकेगी।

संगीत शिक्षा की सफलता

संगीत विषय का प्राथमिक शाला के बालकों को ज्ञान कराने के लिये सरल से सरल उपायों को काम में लेना होगा। शिक्षण संस्थाओं में संगीत-शिक्षा को सफल बनाने के लिये निम्न बातों का ध्यान रखना अति आवश्यक है-

१. संगीत-शिक्षा की सफलता पूर्ण रूप से संगीत-शिक्षक पर निर्भर करती है। अतः शिक्षक बालकों को शिक्षा देने के कार्य में अधिक से अधिक रुचि लेवे।

२. निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार उचित रूप से अभ्यास कराया जावे, न कि एक कलाकार की भाँति विद्यार्थी के साथ व्यवहार किया जावे।

३. विद्यार्थियों की रुचि बनाये रखने के लिये उन्हें निरुत्साहित न किया जावे तथा शिक्षण में स्वाभाविकता होनी चाहिए।

४. शास्त्रीय-संगीत के कठिन पक्ष को पढ़ाने के लिये सरल सुगम प्रणाली द्वारा शिक्षा दी जावे।

५ गीत की भाषा एवं शब्द वातावरण के अनुसार सरल एवं आकर्षक होंगे तो विद्यार्थी की रुचि गाने के प्रति बढ़ेगी।

६. विद्यार्थियों को यह अनुभव होना चाहिए कि वे संगीत में आनन्द ले रहे हैं और शिक्षक उन्हें आनन्द प्राप्त कराने में सहायता दे रहा है।

उपर्युक्त बातों का ध्यान रख कर शिक्षा दी जाने पर संगीत विषय के प्रति रुचि बनी रहेगी और बालक इस विषय में एक नवीन आनन्द अनुभव करेंगे। प्राथमिक-शालाओं के विद्यार्थियों को संगीत-संस्थाओं के विद्यार्थियों की तरह शिक्षा देना उचित नहीं है क्योंकि संगीत-संस्थाओं में संगीत विषय ही प्रमुख होता है जब कि शालाओं में यह एक विषय के रूप में निर्धारित है।
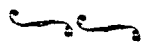
संगीत शिक्षण-सिद्धान्त

बाल-मनोविज्ञान के आधार पर यह ज्ञात किया जा चुका है कि बालकों के भीतर प्रत्येक विषय को सीखने की शक्ति होती है। अतः संगीत-शिक्षा के लिये भी वे ही नियम लागू होते हैं, जो अन्य विषयों को सिखाने में काम में लाये जाते हैं। किसी विषय को सिखाने के लिये निश्चित योजना बना कर शिक्षा देने से बालक को वह विषय सिखाने में सुविधा होती है। संगीत विषय का ज्ञान अगर बालक की इच्छा के विरुद्ध कराया गया तो वह उसमें रुचि नहीं लेगा। बालक का महत्व संगीत से अधिक होना चाहिए। बिना रुचि स्वराभ्यास कराने पर वह उसे ग्रहण नहीं करेगा और उसके जीवन में ऐसे विषय के अभ्यास एवं ज्ञान का कोई महत्व भी नहीं रहेगा। बालक को स्वयं सीखने में सहायता प्रदान करना मनोवैज्ञानिक संगीत-शिक्षण-विधान का प्रमुख कार्य है। अतः संगीत-अध्यापक का भी यही लक्ष्य होना चाहिए।

संगीत विषय की शिक्षा में मुख्य दो विषयों का ज्ञान कराना होता है, एक स्वर का तथा दूसरा ताल का। इन दोनों में से कौनसा विषय प्रथम और कौनसा बाद में सिखाया जावे, यह कक्षा-अध्यापक वातावरण के अनुसार निश्चित कर सकता है। संगीत-शिक्षा की दृष्टि से दोनों विषय साथ साथ ही चलते हैं क्योंकि बिना स्वर के ताल का कोई महत्व नहीं और बिना ताल के स्वर का कोई महत्व नहीं। इसलिये स्वर एवं ताल दोनों को संगीत का अनिवार्य अंग समझ कर इनका ज्ञान कराना चाहिये। जब कलाकार अपनी रचना को प्रस्तुत करता है तो स्वर-ताल का स्वरूप ही उस रचना को सौन्दर्य प्रदान करता है।

संगीत के अन्तर्गत वह सामग्री आती है, जो कलापूर्ण तथा आनन्द-

दायिनी हो। संगीत के विद्यार्थी को उसके कण्ठ धर्म के अनुसार ही अभ्यास कराने पर उचित लाभ हो सकता है। मनुष्य जीवन को सरस, सुखी और सुन्दर बनाने में जो संगीत उपयोगी हो, वही वास्तविक संगीत है। बालकों को उनकी रुचि के अनुसार संगीत का ज्ञान करवाने के लिए निम्नलिखित पांच सिद्धान्त निश्चित किये जा सकते हैं।

स्वर सिद्धांत

इसके अन्तर्गत वे ध्वनियां आती हैं, जो वाद्य-यंत्रों पर बजाई जाती हैं तथा गायन में स्वरमालिका आदि रचनाएं आती हैं। जो बालक वाद्ययंत्रों की धुनों को तथा स्वरों की रचनाओं को सुन कर आनन्द लेते हैं, उनकी रुचि वाद्य-कला को सीखने में अधिक पाई जाती है और आगे जाकर वे किसी न किसी स्वर-वाद्य को अपना लेते हैं।

शब्द सिद्धान्त

राग तथा ताल युक्त वे रचनाएं, जिनमें शब्दों को प्रधानता दी गई हो, जैसे—प्रार्थना, भजन, सुगमसंगीत, लोक-गीत आदि, इसके अन्तर्गत आते हैं। ऐसी रचनाओं को साहित्य से अनुराग रखने वाले बालक अपनाते हैं, जो संगीत में साधारण ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं।

लय सिद्धान्त

राग की बन्दिशों एवं ताल रचनाओं में लयकारिता का कार्य होता है। इसमें चमत्कारिकता के कार्यों का प्रदर्शन करने की भावना रहती है। चंचल प्रकृति के बालक ऐसे संगीत को पसन्द करते हैं। वे कलाकार बनना चाहते हैं।

अलंकार सिद्धान्त

संगीत में स्वरों को उल्टा, सीधा विविध प्रकार से गाने या बजाने की क्रिया को अलंकार कहते हैं। इनके साथ शब्द गौण होते हैं और गायन में तान, पल्टों की अधिकता रहती है। वर्तमान ख्याल गायकी इसी के अन्तर्गत आती है। सभ्य समाज के बालक न इस प्रकार की शैली को सीखने में रुचि लेते हैं और न सुनने में ही।

रस सिद्धान्त

स्वर, ताल एवं शब्दों के द्वारा जिन संगीत—रचनाओं में जनसाधारण

आनन्द प्राप्त कर सकें, ऐसी गायन शैली रस सिद्धान्त के अन्तर्गत आती है। जैसे ठुमरी, गजल, कव्वाली आदि। ऐसी रचनाओं द्वारा शब्द, स्वर तथा लय-ताल के माध्यम से छोटी छोटी स्वर-संगतियाँ तथा व्यवहारिता का प्रदर्शन करके रस एवं भावों को अभिव्यक्त किया जाता है।

इन सिद्धान्तों को देखने से संगीत-शिक्षा के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार सामने आते हैं। संगीत को आत्मा से सम्बंधित मानने वालों के लिये स्वर-सिद्धान्त तथा रस-सिद्धान्त उपयुक्त हैं किन्तु बाह्यपक्ष को प्रमुख मानने वालों के लिये शेष तीनों सिद्धान्त उचित हैं। संगीतज्ञों के शब्दों में इन सिद्धान्तों को शैली कहा जाता है। प्रत्येक कलाकार को अपनी कला-साधना के लिये किसी न किसी शैली को अपनाना पड़ता है। शैली या सिद्धान्त को अपनाने के लिये बुद्धि, कल्पना तथा भाव इन तीनों अंगों का कार्य महत्वपूर्ण होता है, तभी उक्त शैली का कलाकार अपनी कला में सफलता प्राप्त कर सकता है।

प्रत्येक बालक में पृथक् पृथक् विशेषताएं होती हैं। वह उन्हें बाह्य-रूप देने के लिये विविध प्रकार की चेष्टाएं करता रहता है। बालक द्वारा की गई चेष्टाओं के द्वारा अध्यापक उसके भावों एवं रुचि की जानकारी कर लेते हैं। संगीत-शिक्षण के कोमल पक्ष से उसका विशेष संबंध है, यह ज्ञात होने पर शिक्षक का कार्य है कि वह उसे अभ्यास एवं शिक्षा के द्वारा सौन्दर्यपूर्ण बनावे।

संगीत का संबंध प्राणी मात्र से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि वह चेष्टा करने पर भी इससे पृथक् नहीं हो सकता। संगीत चाहे शास्त्रीय हो, चाहे लौकिक, बच्चे में उसके तत्व प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहते हैं। ऐसी स्थिति में उसको जीवन से पृथक् करने का प्रयास करना बुद्धिमानी नहीं कहा जा सकता। बालक के जीवन में जो तत्व विद्यमान हैं, उन्हें सही प्रकार से समझ कर विकास की ओर बढ़ाना ही शिक्षा-शास्त्रियों का काम है। यह कार्य संस्थाओं के माध्यम से सुगमता के साथ किया जा सकता है।

कक्षाओं में संगीत-शिक्षा

संगीत विषय को जिस प्रकार से आज कक्षाओं में पढ़ाने की विधि है, उससे विद्यार्थी को संगीत सम्बन्धी स्वर, लय एवं तालज्ञान की जानकारी न होकर सिर्फ गीतों को रटने की रुचि हो जाती है। अतः विद्यार्थी संगीत के वास्तविक ज्ञान से वंचित रह जाता है। प्राइमरी कक्षाओं से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक के विद्यार्थी की यह स्थिति है कि उसका स्वर तथा लयज्ञान सही नहीं हो पाता है। वर्तमान

शिक्षा-प्रणाली का यह दोष है कि कक्षाओं की सामूहिक-शिक्षा के कारण प्रत्येक विद्यार्थी को इसका उचित लाभ नहीं मिल सकता। प्रत्येक संगीत-अध्यापक प्रारम्भ से ही प्रत्येक अवस्था के विद्यार्थी को स्वरों के कठिन अभ्यास से शिक्षा देना चाहता है, परन्तु हर व्यक्ति पर यह विधि लागू नहीं हो सकती। प्रारम्भिक कक्षाओं में स्वरों का कठिन अभ्यास कराना विषय प्रति अरुचि उत्पन्न करना है। सभी विद्यार्थियों की एकसी रुचि तथा ग्रहण-शक्ति नहीं होती। कोई विद्यार्थी विशेष रुचि लेगा तो कुछ छात्र साधारण रुचि लेने वाले होंगे। कुछ छात्र ऐसे भी पाये जायेंगे, जो बिलकुल ही रुचि नहीं लेंगे। कक्षा के समस्त छात्र-छात्राओं को उचित लाभ पहुँचाने के लिये अध्यापक को चाहिए कि सर्व प्रथम वह ऐसी जानकारी प्राप्त करें कि कितने छात्र-छात्राएं किस प्रकार की रुचि रखते हैं। इसके लिये एक तालिका बना लेने से काफी सुविधा रहेगी। तालिका का नमूना निम्न प्रकार से हो सकता है—

छात्र परिचयात्मक तालिका

प्रकार से अभ्यास एवं अध्ययन करना होता है। सर्व प्रथम हम संगीत के प्रायोगिक पक्ष पर विचार करेंगे।

संगीत का प्रायोगिक-शिक्षण

संगीत का संबंध मधुर ध्वनियों से है, जिनको सुन कर प्राणी मात्र को आनन्द मिलता है। संगीत शास्त्र ने इनको पृथक् पृथक् दूरी का नाम स्वर रखा है, जो सात हैं। इन्हीं सातों स्वरों के उतार-चढ़ाव के विभिन्न भेद कर दिये जाने की क्रिया को राग कहा गया है। शास्त्रीय-संगीत मे जितनी भी गायन शैलियां प्रचलित हैं, वे सब किसी न किसी राग के अन्तर्गत होती हैं। इन रागों का सही प्रकार से अभ्यास करा देना ही संगीत का प्रायोगिक शिक्षण है।

कहने और लिखने में यह बात साधारण है किन्तु वास्तव में संगीत के इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कितनी साधना करनी पड़ती है, यह संगीतज्ञ ही जानता है। संगीत सुनने मे जितना आनन्द देता है, सीखने मे वह उतना ही कठोर लगता है। ऐसी कठोर साधना वाले विषय की शिक्षा प्राथमिक-शालाओं के बालक किस प्रकार सहन करके उसका लाभ उठा सकते हैं? इसी कारण संगीतज्ञों ने बाल-वर्ग के लिये इस कला का प्रावधान आज तक रखा ही नहीं। किन्तु शिक्षा-शास्त्र के आचार्यों ने संगीत शिक्षा को बालक के लिए अनिवार्य रखा है, यह ध्यान में रखने योग्य बात है।

हमारी दृष्टि में संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा बाल्य अवस्था से प्रारम्भ कर देनी चाहिए, जिससे आगे जाकर संगीत ज्ञान में कठिनाई न आवे। बालकों की अवस्था को ध्यान मे रखते हुए निम्न प्रकार से उन्हें सरल एव सुगम विधि मे ज्ञान कराना उचित होगा—

स्वर ज्ञान

सर्व प्रथम बालक को स्वर ज्ञान कराने के लिये ध्वनि से परिचित कराना चाहिये। ध्वनि की उत्पत्ति दो वस्तुओं की टक्कर तथा रगड़ से होती है। इन दोनों प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करके अध्यापक बताये कि टक्कर वाली ध्वनि और रगड़ वाली ध्वनि में क्या अन्तर है? इसके पश्चात् मधुर तथा अमधुर ध्वनि का ज्ञान कराया जावे। मधुर ध्वनि को अध्यापक स्वयं अपने कण्ठो द्वारा अथवा किसी वाद्ययंत्र के माध्यम से निकाल कर जानकारी करावे। प्राथमिक-कक्षा के लिये सातो स्वरों की जानकारी कराना आवश्यक नहीं है। इस

कक्षा के लिए केवल तीन ऐसी ध्वनियों का ज्ञान कराया जावे, जो एक दूसरी ध्वनि से काफी भिन्न हों और बालक को उन्हें पहिचानने में अधिक कठिनाई न पड़े। इसके लिये सा, ग और प इन तीनों (स्वरों) ध्वनियों की विभिन्न प्रकारों से जानकारी दी जावे। इसके लिये सा, ग, प का बालकों से गवाने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि वर्तमान शिक्षण-पद्धति में किया जाता है। इनको पहिचानने के लिये स्वर संबंधी उपकरणों का प्रयोग करना आवश्यक है।

साधन

इस कक्षा के बालकों की आयु कम होती है और इनको किसी वस्तु को पीटने की आदत होती है। अतः विभिन्न धातु के सा, ग, प के टुकड़े लिये जावें, जिनके द्वारा पीट पीट कर एक सी ध्वनि को जानने का बालक प्रयत्न करें। स्वरयुक्त ऐसे साधन बनाये जा सकते हैं अथवा जलतरंग, नलिका तरंग, काष्ठतरंग, कांचतरंग आदि वाद्यों को काम में लाया जा सकता है। इसके बाद इन्हीं तीनों स्वरों में शिक्षक स्वयं आकारादि द्वारा गाकर स्वर छांटने की क्रिया करावे और कभी कभी बालकों के कण्ठों से भी इन्हीं स्वरों में आवाज निकाले जावें। इस प्रकार का अभ्यास बालकों को वर्ष में इन तीन स्वरों से पूर्ण परिचित करा देगा।

'ग' में बकरी तान सुनाए।
'रे' से ऊंचा यह कहलाए॥

(मा. सं. शि.)
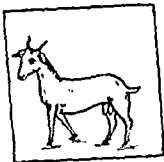
पंचम स्वर में कोयल बोले।
जिसको सुन सबका मन डोले॥

(मा. सं. शि.)
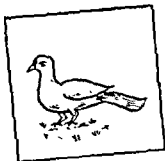
ये कविताए तीनों स्वरों के नाम याद कराने मे तो सहायक हैं ही किन्तु तीनों स्वरो को उच्चारण करने वाले जानवरो की भी जानकारी इनसे हो जाती हैं जो संगीत शास्त्र का विषय है।

स्वराभ्यास

स्वर ज्ञान के लिये उन तीन ध्वनियों का चयन किया जावे, जिनका ज्ञान कराने हेतु बालक तथा शिक्षक दोनों को परिश्रम करना पड़ेगा। किन्तु स्वराभ्यास के लिए उन ध्वनियो को सर्व-प्रथम देखना होगा, जो बालकों के कण्ठ मे स्वभाविक होती हैं और जिनको बिना श्रम के ही वे निकाल लेते हैं। साधारणतः ये ध्वनियां इस रूप मे पाई जाती हैं—स नि सा, नि सा रे सा, ध सा रे ग। कभी कभी म ग रे सा तक के स्वरों का प्रयोग भी बालक कर लेते हैं। वे इन स्वरो मे प्रचलित धुन व गीत को गुनगुनाते रहते हैं। शिक्षक को चाहिये कि इन्ही स्वरो को ध्यान मे रख कर बालकों को गीत गाने के लिए कहे। इसके साथ निम्न बातो का भी विशेष रूप से ध्यान रखा जावे:—

अनुकरण

संगीत का समस्त ज्ञान आवाज का अनुकरण करना है। सरल धुनों का अनुकरण बालक बड़ी आसानी से कर लेते हैं किन्तु शास्त्रीय-संगीत की बन्दिशों का अभ्यास कराने पर वे रुचि नहीं लेते। अतः छोटी अवस्था वाले बालकों पर शास्त्रीय-संगीत का भार डालना बुद्धिमानी नहीं है। इनके लिए इतना ही काफी है कि वे संगीत से सम्बन्धित होकर उसमें आनन्द लेने लगें। साधारण जानकारी

देने के लिए ऐसी छोटी छोटी कविताओं को गवाया जाय, जिनका वे आसानी से अनुकरण कर सकें।

अनुकरण करने के लिए केवल गीत ही नहीं हैं, वे सभी क्रियाएं भी हैं, जो गीत से संबंधित होती हैं। इनको हम निम्न प्रकार से उपयोग कर बालक के विकास में सहयोग प्रदान कर सकते हैं—

ध्वनियों का अनुकरण

बालक अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न ध्वनियों का अनुकरण करके खेलते हैं, जैसे–रेल की ध्वनि।

बोली का अनुकरण

पशु-पक्षियों की बोली को उन्होंने सुना है। वे वैसी ही आवाज स्वयं भी निकालने का प्रयत्न करते हैं जैसे—कुत्ता, बकरी, मुर्गा, कौआ आदि। इसके अलावा घर के बड़े-बूढ़ों की बोली का अनुकरण करते भी उन्हें देखा गया है।

शब्दों का अनुकरण

बालक उन शब्दों को शीघ्र ही उपयोग करने लगता है, जिनको वह रात-दिन सुनता है।

उपर्युक्त तीनों अनुकरणों के सम्बन्ध में बालक का ध्यान रखा जावे कि वह कौनसी क्रिया को अच्छी तरह कर रहा है? वही संगीत की शिक्षा में उसके लिए उचित रूप से लाभकारक होगी।

संगत सिद्धान्त

गाने, बजाने में संगत का स्थान बहुत ही महत्व-पूर्ण माना गया है। गाने तथा बजाने वाले के साथ तबले की संगत होती है। अगर गाने वाले का अनुकरण स्वर वाद्य वाला करता है तो वह क्रिया भी संगत कहलाती है। बालकों को लय का ज्ञान कराने के लिये अध्यापक किसी वाद्ययंत्र पर धुन (लहरा) बजावे और बालकों को उस लय में नचाया जावे। इस क्रिया से उनको लय की जानकारी होगी। इसी प्रकार उनको ताल लगाने का अभ्यास भी कराया जावे, जैसे—तीन तालों का खेल।

स्वरों की संगत के लिये गीत या धुन के साथ उनको सा ग प के स्वरों को जलतरंग या अन्य वाद्य के उपकरणों द्वारा बजाने का अवसर दिया जावे, जिसके आधार पर वे संगत का प्रयत्न करें।

शिक्षक स्वयं इन तीनों स्वरों को लयबद्ध गावे और विद्यार्थियों को उनके अनुसार ध्वनि निकालने को कहे, जैसे—गाऽ सा सा, गा ग सा सा, सा सा ग सा, गा ग प ऽ, ग प ग सा आदि अनेक रूपों में चेष्टा कराके बालकों को संगत करने का अवसर दिया जावे। इससे स्वर तथा लय दोनों का ज्ञान होगा। इन्हीं स्वरों पर शिक्षक गीतों की रचना करके भी गवा सकते हैं तथा कभी कभी आकारादि में गाकर अभ्यास कराया जावे।

संगीत का ऐतिहासिक पक्ष

संगीत का इतिहास मानव की उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है बालकों को इस विषय से अनभिज्ञ न रखा जावे। परन्तु इन कक्षाओं में सिर्फ परिचायत्मक रूप से साधारण जानकारी देना ही काफी है। यह जानकारी कहानी के रूप में तथा चित्रों के आधार पर कराई जा सकती है।

कलाकारों के चित्र

उन चित्रों की जानकारी कराई जावे, जिनको वे अपने घरों में भी देखते हैं, जैसे—शंकर का नृत्य, सरस्वती की वीणा, कृष्ण की वसी आदि। इस प्रकार संगीत के इतिहास को शकर के डमरू से संबधित करके उन्हें प्रारम्भिक जानकारी दे दी जावे। ये चित्र देवी-देवताओं के हों और उनके हाथ में कोई न कोई वाद्ययत्र अवश्य रहे। इससे बालकों को कलाकारों के परिचय के साथ साथ वाद्ययंत्रों का भी परिचय हो जाएगा। प्रारम्भ में शंकर का डमरू, सरस्वती की वीणा, कृष्ण की वंसी तथा मीरा की खड़ताल इन चार का परिचय ही काफी है।

वाद्ययंत्रों के चित्र

संगीत के इतिहास में वाद्ययंत्रों का अलग महत्व है। संगीत की उत्पति के साथ ही वाद्ययंत्रों का भी आविष्कार हुआ है। जो राग कण्ठ द्वारा गाये जाते हैं, उन्हें वाद्यों पर भी बजाया जाता हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे वाद्य होते हैं, जिनके द्वारा सिर्फ लय अथवा ताल ही प्रदर्शित किये जाते हैं। इस प्रकार वाद्यों

के दो भेद हुए। एक 'स्वर वाद्यमंत्र,' जिनका उपयोग ध्वनियों के उतार-चढ़ाव के लिए ही होता है। ऐसे वाद्यमंत्र लय व ताल को दर्शाने के लिए उपयोगी होते हैं।

स्वर वाद्य के भी दो भेद हैं। प्रथम प्रकार में वे वाद्य आते हैं, जो गाने के साथ बजाये जाते हैं, जैसे-सारंगी, इसराज, वायलिन आदि। जितने भी गज से बजने वाले वाद्यमंत्र हैं, वे गायन की संगत हेतु उपयोगी माने गये हैं। दूसरे प्रकार में वे वाद्यमंत्र आते हैं जो टक्कर या फूंक (हवा) से बजाये जाते हैं, जैसे-वीणा, सरोद, सितार आदि। ये तारवाद्य हैं, जिन पर गत बजाने का ही कार्य होता है। हवा या फूंक से बजने वाले वाद्यों में हारमोनियम, बांसुरी, शहनाई, क्लारनेट आदि हैं। इसके अलावा ठोस धातुओं को पीटने पर जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उनके द्वारा भी गत बजाने का कार्य किया जाता है किन्तु इनमें तार वाद्यों की तरह स्वरों को खींचने, रगड़ने, कम्पन्न करने की जरा भी गुंजाइश न होने के कारण इनका महत्व तारवाद्यों से कम माना गया है। ऐसे वाद्यमंत्रों के नाम निम्न प्रकार हैं-जलतरंग, काठतरंग, नलिकातरंग, कांचतरंग आदि।

लय व ताल वाद्य का उपयोग सभी गाने, बजाने तथा नाचने वालों को करना ही पड़ता है। बिना लय को दर्शाये संगीत का स्वरूप प्रकट नहीं होता। स्वर तथा लय दोनों का इतना अटूट संबंध है कि संगीत में किसी एक का अभाव होने पर उसे संगीत नहीं कहा जा सकता। ऐसे वाद्यमंत्रों के नाम निम्न प्रकार हैं, जो चर्म से मढ़े होते हैं—ढोल, नगाड़ा, ढफ, ढोलक, मृदंग, तबला, डमरू आदि।

प्राथमिक कक्षाओं के बालकों को उपर्युक्त वाद्यों के प्रकारों में से चित्रों के द्वारा दो दो वाद्यमंत्रों का ज्ञान व परिचय करना चाहिए। अगर इन चित्रों के साथ सरल कविताओं को भी याद रखने के लिये दिया जावे तो बालक अधिक रुचि लेंगे।

प्रथम चारों प्रकार के वाद्य यंत्रों का ज्ञान निम्न प्रकार से कराया जावे-

१		२		३		४	
तन्त्र वाद्य		विततवाद्य		सुषिर वाद्य		घनवाद्य	
सितार	तानपुरा	मजीरा	घुंघरू	बिगुल	बांसुरी	ढोलक	तबला
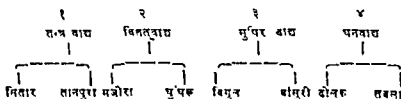
प्रथम कक्षा के लिये आठ वाद्ययंत्रों का परिचय हो जाना काफी है। वाद्यों का परिचय देने के लिये कार्ड पर उनका चित्र बना कर नीचे उसी वाद्य से सम्बन्धित कविता सरल शब्दों में लिख दी जावे तो सभी बालक इस क्रिया में रुचि लेंगे। कविता का नमूना निम्न प्रकार से हो सकता है—

ढोलक

ढोलक देखो गोल-मटोल।
बाहर लकड़ी भीतर पोल ॥
रस्सी खींचों तो तन जावे।
धा धा धिन्ना ताल सुनावे ॥

(आ. सं. शि.)
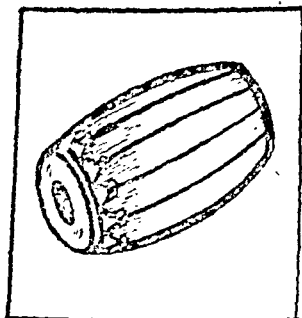
कक्षा में इन वाद्यों के सुन्दर-सुन्दर चित्र बना कर लगाने चाहिये। बालकों द्वारा किसी नये वाद्य का नाम सुना जावे तो उसके चित्र को भी कक्षा में लगाना चाहिए। बालकों में संगीत के प्रति रुचि जागृत रखने का यह एक उत्तम साधन है। अगर बालक वाद्ययंत्रों के लिये अलबम बना सकें तो प्रत्येक बालक का पृथक् पृथक् अलबम तैयार कराया जावे। यह कार्य घर के लिये भी दिया जा सकता है। सबसे सुन्दर अलबम बनाने वाले बालक को पुरस्कृत किया जावे इस प्रकार ज्यादा अलबम बन जावें तो उनकी प्रदर्शनी लगाई जावे, जिससे अन्य बालकों में भी संगीत के प्रति रुचि उत्पन्न हो।

कहानियां

संगीत में कुछ ऐसी कथा और कहानियां हैं, जिनको कक्षा में बालकों को कभी कभी सुनाना चाहिए। कहानी सुनने में बालक विशेष रुचि लेते हैं। अतः कहानी के द्वारा भी संगीत में रुचि बढ़ाई जा सकती है। संगीत संबंधी कथा-कहानियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जावे—

अ. पौराणिक कहानियाँ

ऐसी कहानियों में शिव-पार्वती, नारद, सरस्वती, उर्वशी, मेनका, आदि से संबंधित प्रसंग आते हैं।

ब. ऐतिहासिक कहानियाँ

इन कहानियों में ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन रहता है, जैसे–तानसेन, बैजू बावरा, बख्शू आदि।

स. पशु-पक्षियों संबन्धी

संगीत का संबंध प्राणी-मात्र से है। ऐसी छोटी छोटी घटनाएं कलाकारों के जीवन में होती रही हैं, जिनका संबंध पशु-पक्षियों से भी रहा है। इन कहानियों में संगीत को सुन कर पशु-पक्षियों का मुग्ध होना और अपने प्राणों तक को दान देना आदि अनेक प्रसंग होते हैं।

द. विविध

कलाकारों के जीवन की समय समय की घटनाओं का वर्णन या अन्य संयोगमय घटनाएं भी इनके अन्तर्गत आ सकती हैं।

कहानी का उद्देश्य इस प्रकार से हो कि उनसे बालकों में संगीत के प्रति प्रेम उत्पन्न हो, कल्पना शक्ति का विकास हो, चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़े, साधना शक्ति को बल मिले और ज्ञान में वृद्धि हो। दूसरी अथवा तीसरी कक्षा में ऐसी कहानियों की पुस्तक भी पाठ्यक्रम में होनी चाहिए। संगीत-जगत् में ऐसी अनेक कहानियां हैं, जैसे–पौराणिक कहानियों में–छः रागों की उत्पत्ति, वीणा की कहानी, नारद मानमर्दन आदि। ऐतिहासिक कहानियों में–तानसेन, बैजू बावरा, तराने की उत्पत्ति, दीपक राग का प्रभाव आदि। पशु-पक्षियों की कहानियां जो कलाकार के संगीत से सम्बंधित मिलती हैं, जिनमें अमुक वाद्य बजाने या राग गाने से हरिण, सांप, और शेर भी प्रभावित हो गये हैं। विविध कहानियों में वे सभी कहानियां आ जाती हैं, जो कलाकारों के जीवन में घटना के रूप में घटित होती रही हैं।

संगीत का भोगोलिक ज्ञान

संगीत के विद्वान् इस बात से शायद सहमत न हों कि संगीत के विद्यार्थी को भूगोल-शिक्षा की भी आवश्यकता है। उनके विचार से संगीत विषय में नदी, नाले, पहाड़ों आदि की जानकारी की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु वस्तुतः संगीत से सम्बन्धित उन भोगोलिक स्थितियों का ज्ञान विद्यार्थी के लिए अति

आवश्यक हैं, जिनका संबंध संगीत से है। इस पृथ्वी पर रहने वाले लोगों के, रहन-सहन, खान-पान, गायन शैली, नृत्य-शैली आदि का, जो संगीत से संबंधित हैं, जानकारी करना जरूरी है। अगर यह जानकारी सुव्यस्थित तरीके से विषय के साथ दे दी जावे तो विद्यार्थी को अपने विषय को आगे बढ़ाने में एक उचित मार्ग मिल जाता है और उसका वह अज्ञान दूर हो जाता है, जो आज के संगीतज्ञों के सामने है। इसके लिए हम निम्न उद्देश्य निश्चित कर सकते हैं--

(१) संगीत से प्रभावित जन-जीवन का भोगोलिक आधार पर अध्ययन करना।

(२) देश तथा विदेशों की संगीत-नृत्य संबंधी परिस्थितियों का ज्ञान करना।

संगीत के भूगोल की जानकारी के लिये विषयानुसार ज्ञान कराया जाना चाहिये। संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य ये तीनों ही विषय आ जाते हैं। इन तीनों का भूगोल के साथ निम्न प्रकार से सहसंबंध स्थापित कर प्राथमिक कक्षाओं को इनकी जानकारी कराई जावे। भारतवर्ष के नकशे द्वारा निम्न बातों की जानकारी दी जावे।

गायन शैली

नकशे में चित्रों द्वारा जिस प्रान्त की जो शैली है, उसी स्थान पर वह दिखाई जावे जैसे--ग्वालियर की ख्याल शैली, बनारस-लखनऊ की ठुमरी, पंजाब का टप्पा आदि।

वाद्य यंत्र

कौनसे वाद्ययंत्र का अधिक प्रचलन कहां है ? जैसे--वीणा का दक्षिण भारत में, वायलिन का बंगाल में, सारंगी का दिल्ली में आदि आदि।

नृत्य शैलो

भारत के प्रमुख नृत्यों को उन्हीं स्थानों पर नकशे में दिखाया जावे, जहां उनका अधिक प्रचलन है, जैसे-उत्तर भारत में कत्थक, आसाम का मणिपुरी दक्षिण में कथाकली और भरतनाट्यम्।

संगीत संस्थाएं

भारत में संगीत-नृत्य के क्षेत्र में कार्य करने वाली अनेक संस्थाए' हैं।

बालकों को इन संस्थाओं की जानकारी अवश्य करानी चाहिये, जिनकी मान्यता भारतीय-स्तर पर है। ऐसी संस्थाओं में, लखनऊ, ग्वालियर, इलाहाबाद, खैरागढ़ आदि स्थान आते हैं।

संगीत अकादमी

आज प्रत्येक प्रान्त में संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हो चुकी है, जो संगीत, नृत्य, नाटक के क्षेत्र में काफी कार्य कर रही है। इन संस्थाओं के संबंध में प्रत्येक संगीतज्ञ एवं संगीत विद्यार्थी को जानकारी होनी चाहिए। संगीत एवं संगीतज्ञों को हर प्रकार की सहायता एवं सहयोग प्रदान करने वाली इन संस्थाओं की जानकारी करके प्रतिभाशाली विद्यार्थी इनके माध्यम से अपने जीवन को कला क्षेत्र में आगे बढ़ा सकता है। अतः प्रत्येक शिक्षण-संस्था में, जहाँ संगीत की शिक्षण-व्यवस्था है, इन अकादमियों की सूची नक्शे के रूप में होना लाभदायक है।

रेडियो स्टेशन

भारतीय-संगीत के प्रचार में रेडियो का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। अतः नक्शे के द्वारा इनकी जानकारी भी दी जानी चाहिए।

विविध

इसके अलावा कलाकारों के रहन-सहन, प्रान्त के अनुसार लोगों की कला के प्रति रुचि, वहाँ का वातावरण, वेशभूषा, वाद्ययंत्रों के कारखाने, वाद्ययंत्रों की लकड़ी, अन्य सामान घुंघरू आदि का ज्ञान इस शिक्षा के अन्तर्गत आ जाता है।

केवल गाना, बजाना ही संगीत की शिक्षा मान लेने से भारतीय-संगीत के ज्ञाताओं को सामाजिक-क्षेत्र में असफलता मिलती रही है क्योंकि उनका सामाजिक ज्ञान, भौगोलिक ज्ञान तथा अन्य विषय गौण हो जाने से बहुमुखी विकास रुक गया और वे अपने जीवन में स्थान स्थान पर ठोकरें खाते रहे। यदि उनकी शिक्षा के साथ वैज्ञानिक आधार रहा होता तो उनके सोचने और कार्य करने का तरीका ही आज भिन्न होता।

गीत एवं बन्दिशें

शास्त्रीय-संगीत में जो रचनाएं राग तथा ताल के नियमों को ध्यान

में रख कर बनाई गई हों, उन्हें बन्दिशें कहते हैं। मनुष्य कण्ठ से स्वर तथा लय से सम्बन्धित शब्द रचना के गाने को गीत कहा गया है। गीत कोई भी व्यक्ति बिना अभ्यास के गा सकता है किन्तु बन्दिशों को गाने के लिए अभ्यास करना पड़ता है।

प्रारम्भ में साधारण गीतों के द्वारा ही बालकों को संगीत का अभ्यास कराया जावे। गीतों को गवाने के साथ यह भी ध्यान रखा जावे कि बालकों को स्वराभ्यास, लय व तालाभ्यास स्वर एवं लय पहिचानने का भी ज्ञान होता रहे। गीत ही एक ऐसी क्रिया है, जिसको सुन कर बालक की शिक्षा के स्तर का पता श्रोतागण लगा लेता है। इस साधना को जिस रूप से आज कराया जा रहा है, उसमें मनोवैज्ञानिक आधार न होने के कारण संगीत-शिक्षण कार्य नीरस हो गया है। संगीत की साधना के लिए निम्न बातों का ध्यान रखा जावे—

साधना

इस क्रिया में स्वर तथा ताल की साधना कराई जाती है, जिससे संगीत का प्रायोगिक पक्ष मजबूत बनता है।

पहिचानना

संगीत में दूसरे कलाकारों के द्वारा प्रदर्शित स्वर एवं ताल को पहिचानने से विचार-शक्ति का विकास होता है। बालक को इस ज्ञान की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

संगत

इस क्रिया में स्वर संगत तथा ताल संगत का कार्य होता है संगत स्वय द्वारा भी की जाती है तथा अन्य कलाकार के कार्य की संगत भी होती है। इससे तर्क-शक्ति का विकास होता है।

शास्त्रीय ज्ञान

प्रायोगिक पक्ष को पुष्ट करने के लिये शास्त्रीय-ज्ञान की जानकारी आवश्यक है। आज संगीत में जो मतमतान्तरों के विवाद दिखाई दे रहे हैं, उन सबका कारण यही है कि उसमें शास्त्रीय ज्ञान का अभाव है।

प्राथमिक कक्षाओं के गीतों का चयन करते समय यह ध्यान रखा जावे कि गीत की धुन, स्वर, लय सरल एवं उनकी रचना मातृभाषा में की गई हो।

टिक टिक सबको घड़ी सुनावे ।
समय का हमको ज्ञान करावे ।।
(भा. सं. लि.)
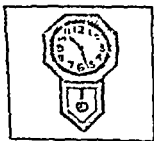
इसी प्रकार चित्र एवं कविता के द्वारा लय के भेद भी बताये जा सकते हैं। अलग अलग चाल के लिये जानवरों की चाल से लय परिचय कराया जावे।

विलंबित लय

इसकी चाल बहुत ही धीमी होती है शास्त्रों में हाथी की चाल को 'विलंबित' में माना है। बालकों को हाथी की चाल का परिचय हाथी का चित्र तथा कविता के द्वारा कराया जाना सुगम रहेगा।

हाथी चलता धीमी चाल।
लय विलंब में देवो ताल॥

(आ. सं. शि.)
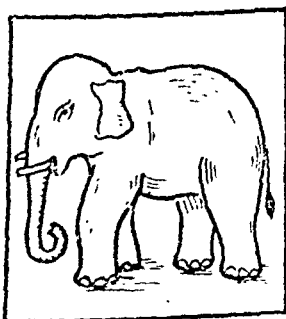
मध्यलय

मध्यलय का ज्ञान कराने के लिये निम्न कविता को याद करना चाहिये।

बैल चले साधारण चाल।
गाते जैसे छोटा ख्याल॥

(आ. सं. शि.)

द्रुतलय

इसी प्रकार द्रुत-लय की जानकारी देने के लिए निम्न कविता को याद कराया जावे।

घोड़ा सरपट भागा जाए।
तेज चाल से सम पर आए॥

(आ. सं. शि.)

इस प्रकार कविता के माध्यम से बालकों को तीनों लय का ज्ञान सुगमता के साथ हो जाएगा और वे इसमे संगीत के प्रति रुचि भी लेते रहेंगे ।

ताल-ज्ञान के तत्व

ताल का महत्व गायन-वादन तथा नर्तन इन तीनों कलाओं के लिए समान ही है। बिना ताल के इन तीनों कलाओं का संगीत में कोई स्थान नहीं रह जाता। अतः ताल ज्ञान को सही रूप मे जानना सभी संगीतज्ञों के लिए अनिवार्य है। बालकों को ताल का ज्ञान कराने के लिए निम्न साधन अपनाये जा सकते हैं।

ताल वाद्यों द्वारा

जिन वाद्य यंत्रों पर ताल को बजाया जाता है, उन्हे अवनद्ध-वाद्य यंत्र कहा गया है। इन वाद्य यंत्रों के नाम इस प्रकार हैं। तबला, मृदंग, पखावज तथा सुगम संगीत के लिये ढोलक आदि। इन वाद्य-यन्त्रों को बजा कर या बालकों द्वारा बजवा कर ताल-ज्ञान कराया जा सकता है।

ताली द्वारा

शिक्षक लय को स्थिर करके विद्यार्थियो द्वारा ताल के निश्चित खण्डों पर हाथ से ताली बजवा कर भी ताल ज्ञान कराते हैं। लय को स्थिरता मात्राओ की गिनती से, ताल वाद्य या स्वर-वाद्य को बजा कर या किसी गीत या धुन को गाकर की जाती है।

गीत-द्वारा

इस क्रिया मे गीत को गाकर हाथ से ताली लगाई जाती है। गाने की क्रिया विद्यार्थियों द्वारा ही कराई जाती है जिससे उनका तालाभ्यास ठीक हो।

स्वर वाद्य द्वारा

इस साधना मे शिक्षक किसी ताल की धुन को स्वर-वाद्य पर बजाता है और विद्यार्थियों, द्वारा उस ताल का अभ्यास विभिन्न प्रकार से करवाता है। इससे विद्यार्थियों का लय ज्ञान व ताल-ज्ञान बढ़ता है।

साधारणतः विद्यार्थियों को ताल-ज्ञान कराने के लिये इन्हीं साधनों को काम में लाया जाता है। जो विद्यार्थी ताल-वाद्य यंत्र की शिक्षा प्राप्त

सामूहिक संगीत-शिक्षा

समूह-गान सामूहिक अभिव्यक्ति है। विश्व के प्रत्येक कोने में सामूहिक रूप से गीत गाने की परम्परा रही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक संवेदना समूह में व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकती। स्वर-तालबद्ध की गई अभिव्यक्ति में रंजकता होती है। समूह-गीत लोकहित की भावना से निर्मित होते हैं अत: वे सरल, स्वाभाविक एवं मधुर होते हैं। मानव की सभ्यता के विकास के साथ इनका विकास हुआ है। भारतीय संस्कृति में समूह-गीतों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जीवन के सभी संस्कारों में सामूहिक-स्वर सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त पर्व, उत्सव, त्यौहार, ऋतु से संबंधित गीतों को सामूहिक रूप से गाने की परम्परा भारत में रही है। जीवन में मनुष्य कर्म करता है। कार्य से उत्पन्न थकान को भुलाने के लिये गीत गाये जाते हैं। गीत गाने से जीवन में उत्साह, स्फूर्ति एवं आनन्द उत्पन्न होते हैं। अत: भारतीय जन-जीवन गीतों की स्वर-लहरी से सम्पन्न रहा है।

स्त्री-पुरुष, बालक-युवा-वृद्ध सभी गाते हैं तथा अपनी आयु बुद्धि एवं सामाजिक स्तर के अनुसार समूह में विभाजित हो जाते हैं। बुद्धि स्तर के कारण गीतों में सरलता एवं जटिलता संबंधी विभाजन हो जाता है। समान आयु स्तर के अनुसार ही गीतों का प्रयोग किया जाता है। कुछ गीत स्वर-भेद से भी युक्त होते हैं एवं उन्हें सभी अपनाते हैं। समाज का एक वर्ग ऐसा भी होता है, जो गीतों के माध्यम से ही अपनी जीविका चलाता है। इस वर्ग को कला-पक्ष का का विशेप ज्ञान एवं अभ्यास होता है, जिससे इसके गीत सामाजिक स्तर से भिन्न होते हैं। गीतों में विशेष सौन्दर्य उत्पन्न करने की चेष्टा इस वर्ग की ओर से की

जाती है। जनसाधारण के गीतों में स्वाभाविक सौन्दर्य युक्त सरलता रहती है।

परम्परागत गीतों में भाषा के भावों से, स्वर एवं ताल का सामञ्जस्य रहता है। इन गीतो का निर्माण अवसर विशेष के लिये किया जाता है। ऐसे गीतों की धुन में प्रायः स्थाई-अन्तरागत विभाजन नहीं पाया जाता। पूरे गीत की धुन के स्वर समान होने के कारण स्थाई-भाव स्पष्ट रहता है। स्वरों के परिवर्तन से रस-परिवर्तन भी होता है।

लोक गीतो मे धुन की प्रधानता रहती है। धुन को आसानी से ग्रहण एवं व्यक्त किया जा सकता है। बुद्धिमान वर्ग ने धुन के स्वरों को नियमबद्ध कर रागात्मकता दी है। धुन से प्रतिभाशाली गायक का व्यक्तित्व नहीं निखर सकता, जिसकी पूर्ति हेतु रागों का निर्माण किया गया है। रागों को व्यक्त करना जन-साधारण के लिए कठिन है। पाश्चात्य देशों में इसी कमी की पूर्ति हेतु 'हारमोनी' का प्रयोग किया जाता है. जिसका प्रचार आज हमारे देश में भी बड़ी तेजी के साथ हो रहा है।

साधारणतया समूह-गीत समान स्वरों में समूह द्वारा एक साथ गाया जाता है। गाने की अन्य परम्पराएं भी प्रचलित हैं, जिनमें मुख्य-मुख्य की यहां चर्चा की जा रही है। एक शैली ऐसी है, जिसमे एक अथवा एक से अधिक गायक नेताओं का समूह अनुकरण करता है। कुछ गायन-शैलियां ऐसी भी हैं, जिसमें प्रमुख-गायक को अपनी स्वर-कल्पना करने सबंधी छूट होती है। परम्परा मे अनेक ऐसे गीत भी पाये जाते हैं, जो एकल नहीं गाये जा सकते क्योंकि उनका गायन-क्रम समूह के विभिन्न गायकों में विभाजित होता है।

समूह-गीतों की संगत मे वाद्य-यन्त्रों का विशेष महत्त्व है। वाद्यों के सहयोग से गीत की भावाभिव्यक्ति स्पष्ट, रोचक एवं आकर्षक प्रतीत होती है। गीतो के साथ तत्, वितत्, घन और सुषिर सभी प्रकार के वाद्यों का उपयोग किया जाता है। वाद्य भाव-प्रसारण के सूचक होते हैं। कुछ वाद्य अवसर विशेष पर ही प्रयुक्त किये जाते हैं। वाद्यों के सहयोग से गीत का वातावरण बनता है और ध्वनि-प्रसारण में भी ये सहायक होते हैं। कुछ वाद्य एक ही प्रकार के भावों को प्रकट करते हैं तो कुछ पर विभिन्न भावों का प्रदर्शन भी संभव होता है।

शास्त्रीय संगीत और समूह-गान

किसी गायक की सफलता के पीछे अनेक सहयोगियों का हाथ होता है।

प्रमुख गायक के साथ सहयोगी–गायक एवं वादक भी होते हैं। इनकी अनुकूलता से ही गायक की सफलता सम्भव होती है। सहयोगी-कलाकार मुख्य-गायक को विश्राम देने के अलावा कार्यक्रम को रोचक बनाने संबंधी वातावरण तैयार करते हैं। समृद्ध गायक अपने अनुकूल सहयोगी–कलाकार रखते हैं। कलाकार के लिए इनका प्रोत्साहन सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है।

कलाकारों की आर्थिक कठिनाई के अलावा कुछ अन्य कारण और भी हैं, जिससे शास्त्रीय संगीत में सामूहिक-गीत प्रस्तुत करने में कठिनाई उपस्थित होती है। उनमें मुख्य-मुख्य का यहां संक्षेप में उल्लेख किया जाता है:—

१. शास्त्रीय-संगीत को प्रस्तुत करने संबंधी शिक्षा व्यक्तिगत रही है, जिससे सम्मिलित रूप से गीत प्रस्तुत करने में कठिनाई आती है।

२. हिन्दुस्तानी संगीत–पद्धति की वर्तमान प्रचलित गायन–शैली भी एक-दो कलाकारों का व्यक्तित्व प्रकट करने में सफल है।

३. कलाकारों मे पाई जाने वाली महत्वाकांक्षा एवं आपसी वैमनस्य भी शास्त्रीय-संगीत में समूह-गीतों को पनपने नहीं देती।

४. हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में समूह-गान प्रस्तुत करने के लिये कलाकारों का शैक्षणिक एवं बौद्धिक–स्तर भी उन्नत होना चाहिये। किन्तु इस क्षेत्र में पाये जाने वाले प्राय: कलाकारों का शैक्षणिक एवं बौद्धिक स्तर साधारण एवं रुढ़िगत है।

५. समूह-गीतों के साथ वाद्य-वृन्द भी आवश्यक होता है। भारत में वाद्य यंत्र कारीगरों द्वारा हाथ से ही बनाए जाते हैं। अलग-अलग स्थानों पर एव अलग-अलग कारीगरों द्वारा निर्मित वाद्यों का आकार एवं प्रकार भिन्न रहता है जिससे स्वर साम्य संभव नहीं होता।

६. हिन्दुस्तानी–संगीत राग-प्रधान होता है। राग के विशिष्ट स्वर समूह के प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनुकूल नहीं होते।

७. हिन्दुस्तानी संगीत में इस ओर प्रयास करने की भावना भी कलाकारों में नहीं पाई जाती।

समूह गान की आवश्यकता

वर्तमान समय में फैली हुई कटु व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा से मनुष्य का

जीवन भ्रष्टाचार एवं वैमनस्य आदि से दूषित हो गया है। आज के मनुष्य में पारस्परिक सहानुभूति का भाव नहीं है। अपने सुख के लिए वह अपनों को ही दुख देता है। आपसी सहयोग समाप्त सा हो चुका है। मनुष्य की नैतिकता न जाने कहाँ छिप गई है। बौद्धिक उन्नति ने अशांति, असन्तोष एवं दुःख के अलावा मनुष्य को दिया ही क्या है ? जीवन का रस भौतिक-उन्नति के साथ-साथ समाप्त हो रहा है। मनुष्य सुख प्राप्ति के लिए दिन-रात व्यस्त रहता है परन्तु वह जीवन को रसमय नहीं बना पा रहा है। ऐसी स्थिति में उसे आवश्यकता है ऐसी स्वर-लहरी की, जो उसकी कुंठाओं को समाप्त कर उसके जीवन में सहयोग, सदाचार एवं प्रेम की भावनाओं का संचार करे। मनुष्य उस लय में गाये जिसकी गति में *अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व की भावनाओं* को लेकर वह आगे बढ़े।

संगीत विषय में व्यक्तिगत शिक्षण-प्रणाली वर्षों से चली आ रही है। व्यक्तिगत शिक्षा से बालक और शिक्षक का सीधा संबंध स्थापित हो जाता है, जिससे विद्यार्थी का विकास होता है। संगीत विषय में स्वर एवं ताल संबंधी अनेक ऐसी आवश्यक बातें हैं, जो गुरू मुख द्वारा कई बार अभ्यास करने पर ही ग्रहण की जा सकती हैं। गुरू भी चाहता है कि विद्यार्थी अधिक से अधिक निकट रह कर उसकी इच्छानुकूल बने।

व्यक्तिगत शिक्षा से लाभ

(१) स्वर तथा ताल संबंधी कठिन बातों की सहज ही जानकारी हो जाती है।

(२) विद्यार्थी के विकास पर पूर्ण रूप से ध्यान रखा जा सकता है।

(३) विद्यार्थी की योग्यता के आधार पर शिक्षा का लाभ हो सकता है।

(४) अध्यापक को गायकी के अनुकरण में काफी सुविधा मिलती है।

(५) लयकारी एवं गायकी के लिए कल्पना करने का अवसर मिलता है।

व्यक्तिगत शिक्षा की कमियां

(१) इसके लिए अधिक समय की आवश्यकता रहती है।

(२) एक ही व्यक्ति पर आर्थिक भार अधिक पड़ता है।

(३) सामाजिक-भावना न रह कर कलाधारिता की भावना बढ़ जाती है।

(४) योग्य शिक्षक के न मिलने पर गलत राह पकड़ लेने की सम्भावना रहती है।

(५) बालक का सामाजिक-क्षेत्र संकुचित रह जाता है।

इस प्रकार देखा गया है कि व्यक्तिगत शिक्षा में जहां गुण हैं, वहां कुछ कमियां भी हैं। संगीत-विषयक ध्वनि तथा लय की जानकारी कराने के लिए व्यक्तिगत शिक्षा उपयोगी है किन्तु सामाजिक उपयोगिता के लिए सामूहिक-शिक्षा का महत्व अधिक है।

जब से संगीत की शिक्षा संस्थाओं के जिम्मे आ गई है, सामूहिक शिक्षा-प्रणाली को अपनाना आवश्यक हो गया है। संगीत एक प्रायोगिक विषय है जिसमें व्यक्तिगत-शिक्षा द्वारा विद्यार्थी को काफी लाभ हो सकता है परन्तु संगीत में एक पक्ष ऐसा भी हैं, जिसके लिए सामूहिक-शिक्षण की आवश्यकता होती है। जैसे–राष्ट्रीय गीत, विद्यालय की प्रार्थना, प्रयाण गीत, लोक गीत आदि। इसके अलावा वाद्यवृन्द में सामूहिक-वादन होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि संगीत में दोनों पक्षों का अभ्यास एवं ज्ञान आवश्यक है।

सामूहिक शिक्षा के गुण

(१) इस प्रणाली से एक साथ कई बालकों को लाभ होगा।

(२) एक साथ गाने से प्रेम भाव बढ़ता है तथा एक दूसरे के प्रति सहायता प्रदान करने की भावना उत्पन्न होती है।

(३) आपस में मिलजुल कर काम करने की भावना जागृत होती है।

(४) सामूहिक-शिक्षा में समय की बचत होती है।

(५) आर्थिक व्यय भी इस प्रणाली में कम होता है।

(६) बेसुरे तथा बेताले बालक अनुकरण कर सही स्वर-ताल में गाने लगते हैं।

(७) शिक्षा संबंधी अनेक भावों की पूर्ति में यह प्रणाली काफी सहायक होती है।

(८) संगीत शिक्षक क्रियाशील बन जाता है।

सामूहिक शिक्षा की कमियाँ

(१) प्रत्येक बालक को स्वर–ताल की साधना उचित रूप से नहीं कराई जा सकती।

(२) सुरीले तथा मधुर बालकों का विकास नहीं हो पाता है।

(३) बेसुरे तथा बेताले बालकों को कम समय मिलने के कारण वे इस विषय में कमजोर रह जाते हैं।

(४) सामूहिक रूप की शिक्षा में बालक की योग्यता का पता नहीं चलता।

(५) विद्यार्थी तथा अध्यापक का व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित न होने से विद्यार्थी का समुचित विकास रुक जाता है।

शिक्षण-संस्थाओं में समूह-गान

वर्तमान शिक्षा- प्रणाली सामूहिक है। पाठशाला का दैनिक कार्यक्रम ईश-वन्दना, राष्ट्रीय-गीत एवं राष्ट्र-वन्दना आदि के सम्मिलित-स्वरों से प्रारम्भ होता है। छात्र-प्रतियोगिताएं, त्यौहार, उत्सव आदि आयोजन भी समय-समय पर पाठशालाओं में किए जाते हैं। सांस्कृतिक-कार्यक्रमों में अधिक से अधिक छात्रों को सम्मिलित करने का प्रयास रहता है। पाठशाला की प्रतिष्ठा के साथ साथ बालकों का सांस्कृतिक विकास भी समूह-गीतों के माध्यम से होता है। समूह-गीत नव-निर्माण, जन-जागरण, अन्तर्राष्ट्रीय-भ्रातृत्व प्रेम एवं उत्साह आदि के भावों से सबंधित होते हैं, जिससे बालकों का नैतिक एवं चारित्रिक विकास होता है।

छात्रों एव अध्यापकों के मध्य मधुर संबंध बनाए रखने मे गीतों का प्रयोग लाभदायक होता है। गीत से मधुर रस का संचार होता है, जिससे बालकों में प्रेम सहयोग एव अनुशासन को बनाने मे बहुत ही सहायता मिलती है। अन्य विषयों की शिक्षा मे जब गीतों का प्रयोग किया जाता है तो पाठ में सरलता एव रोचकता बनी रहती है। समूह-गीतों में प्रयुक्त आंगिक-अभिनय बालक का शारीरिक एव मानसिक विकास करने मे सहायक होते हैं। समूह-गीतों को जब आंगिक, वाचिक, आहार्य एव सात्विक अभिनय के साथ प्रस्तुत किया जाता है तो समाज का हृदय जन-हित के लिए प्रेरित हो उठता है।

सामूहिक-गीत शिक्षा की समस्याएं

समूह-गीत सिखाने के सम्बन्ध में अध्यापक के सामने समूह-गीत की शिक्षा देते समय अनेक समस्यायें आती हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं:—

१. बालकों का ध्वनि-स्तर समान नहीं होता। अतः विभिन्न स्तर के

कण्ठ-धर्म में बालकों को एक साथ गाने के लिये तैयार करना कठिन होता है।

२. कुछ बालक गीत को शीघ्र सीख लेते हैं किन्तु कुछ बालकों को धुन एवं लय चेष्टा करने पर भी उचित रूप से नहीं आ पाती।

३. कुछ बालक आवाज को बहुत जोर से खैंचते हैं तो कुछ बहुत ही धीरे। इसके अलावा आवाज में कम्पन संबंधी दोष भी बालकों में पाया जाता है।

४. कुछ बालक लज्जाशील प्रकृति के होते हैं, जो चेष्टा करने पर भी नहीं गाते।

५. सामूहिक रूप से भावानुकूल उच्चारण प्रत्येक बालक का समान नहीं होता।

६. कुछ बालक गाने में इतनी अधिक रुचि लेते हैं कि गीत के भाव एव उद्देश्य से सर्वथा अपरिचित से रह जाते हैं।

इसके अलावा भी अन्य कठिनाईयाँ हो सकती हैं।

उपाय

कक्षा का कमजोर बालक सामूहिक-गीतों को गाने में अधिक हीनता अनुभव नहीं करता। प्रत्येक बालक में प्रतिभा होती है। कमजोर बालक हतोत्साहित होने के कारण गाने में कम रुचि लेते हैं। बालकों के आवाज-गुण-धर्म का अध्यापक को पूरा ध्यान रखना चाहिए। होशियार छात्रों केसाथ कमजोर छात्रों को भी समूह–गीतों के कार्यक्रमों में सम्मिलित किया जा सकता है। बालक इससे उत्साहित होते हैं और उनका विकास होता है। अध्यापक यदि प्रतिभाशाली छात्रों के प्रति ही जागरूक होगा तो अन्य छात्रों के हृदय से अपना सम्मान खो देगा और छात्रों में भी आपसी द्वेष, असहयोग एवं अनुशासनहीनता की भावनाएं जागृत होंगी।

शिक्षा के प्रति रुचि बनाये रखने के लिये संगीत–विषय की नितान्त आवश्यकता है। योग्य एवं प्रशिक्षित अध्यापक, जो बालकों में रुचि लेते हैं, समूह शिक्षा के लिए उपयोगी हो सकते हैं। यहां छात्रोपयोगी-गीतों का नियोजन करने संबंधी कुछ आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं:—

सुझाव

१. बालकों की आयु एवं बुद्धि-स्तर को ध्यान में रख कर गीतों का चुनाव किया जाना चाहिए।

२. गीत के भाव एवं धुन सरल एवं स्वाभाविक हों तथा बाल्य प्रवृत्ति पर आधारित हों।

३. गीत में प्रयुक्त भाषा भी सरल एवं लयबद्ध होनी चाहिये।

४. गीत के साथ आंगिक-अभिनय भी बालकों से कराया जाना चाहिये। गीत के भावों के अनुसार बालकों के समक्ष क्रियात्मक रूप से दृश्य उपस्थित करने की चेष्टा की जानी चाहिये। उदाहरणार्थ:— श्रमदान गीत को गाते हुये बालक, फावड़ा, परात आदि उपकरणों का उपयोग करने संबंधी भावों का प्रदर्शन करें।

५. गीत गाते समय बालकों को उसमें लीन हो जाना चाहिये। गाने एवं अंगसंचालन दोनों के सहयोग से अधिक तल्लीनता आती है।

६ प्रतिभाशाली बालकों को अपने स्वर-गुण प्रस्तुत करने की व्यवस्था गीत में होनी चाहिये तथा साधारण स्वर-स्तर के बालक साधारण धुन में ही गाते रहें।

७. समूह-गीत के प्रस्तुतीकरण में अवसर की अनुकूलता का होना आवश्यक होता है, जिससे रुचि बनी रहे।

८ समूह-गीतों के साथ उचित वाद्यों की ध्वनि संबंधी व्यवस्था होनी चाहिये। गीत में आये भावों को वाद्य-यन्त्र की ध्वनि प्रभावशाली बनाती हैं।

यहाँ समूह-गीतों की शिक्षा देने वाले अध्यापक की योग्यता को संक्षेप में बतलाया जा रहा है :—

१. बालकों के अनुकूल धुन-निर्माण करने की क्षमता।

२. गीत के भावार्थ एवं उद्देश्य को समझा सकने की योग्यता।

३. किसी स्वर-वाद्य पर गीत की धुन को भली प्रकार बजाने की योग्यता।

४. बालकों को शुद्ध उच्चारण एवं स्वर-ताल का ज्ञान करा सकने में सामर्थ्य।

५. अवसरानुसार बालोपयोगी गीतों का निर्माण कर सकना।

६. जिसके स्वयं के स्वर, समूह को शिक्षा दे सकने में समर्थ हों।

७. जिसका व्यवहार एवं व्यक्तित्व बालकों के अनुकूल हो।

८. अध्यापक को अभिनय एवं रंगमंचीय ज्ञान भी होना चाहिये।

९. जो वाद्य-वृन्द को निर्देशित कर सके।

१०. बालोपयोगी परम्परागत-गीतों से वह परिचित होना चाहिये। इसके अलावा देश-विदेश की प्रचलित धुनों एवं बालकों के योग्य गीतों का भी वह ज्ञाता हो।

११. हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का वह अच्छा ज्ञाता होना चाहिये।

१२. गीत को अधिक से अधिक सोद्देश्य एवं रोचक बना सकने में वह समर्थ होना चाहिए।

१३. जो सभी प्रकार के बालकों को गीत गाने में व्यस्त कर सके।

१४. जो बालकों को गीत–शिक्षा द्वारा रचनात्मक कार्य करने की ओर भी प्रेरित कर सके।

१५. इसके अलावा शिक्षा में शिक्षण संबंधी योग्यता भी होनी चाहिये। वह बालमनोविज्ञान एवं शिक्षण-विधि का ज्ञाता होना चाहिये। उसकी शिक्षा बालकों को प्रिय प्रतीत होनी चाहिये।

समूह-गान की शिक्षण विधि

समूह-गीतों की शिक्षा के अन्तर्गत गीत का अर्थ, भाव, स्वर, ताल, अभिनय, शुद्ध-उच्चारण का ज्ञान एवं अभ्यास कराना मुख्य रूप से आता है। शिक्षक को बालकों की आयु एव बुद्धि के अनुसार विभिन्न शिक्षा प्रणालियों का उपयोग करना होता है जिन्हें नीचे बताया जाता है:—

अनुकरणात्मक शैली

गीत को सुन कर सीखने में सबसे अधिक आसानी रहती है। बालक बहुत से गीत जिन्हें वह अपने परिवार अथवा समाज में सुनता है, अनुकरण करके सीख लेता है। अध्यापक बालकों की रुचि के अनुसार अच्छे गीत गा कर सुनाये एव उन्हें अनुकरण करने के लिये प्रेरित करे। कुछ प्रतिभाशाली बालक इस क्रिया से शीघ्र ही सीख लेते हैं। उनका उपयोग बाद में अन्य बालकों को अनुकरण कराने हेतु किया जा सकता है।

देख कर सीखना

आयोजन विशेष पर जब गीत प्रस्तुत किया जाता है तो उसके उद्देश्य

या टार्लोग्राम से बालक देख कर ही स्वयं परिचित हो जाता है और देख के नकल करने की चेष्टा कर सकता है। बालक के समस्त क्रियात्मक इस दर्शित करने से ज्ञान-प्राप्ति में उसे सुविधा एवं रोचकता मिलती है।

वाद्य यंत्र

बालकों की स्वर-साम्य समस्या का हल वाद्यों के सहयोग द्वारा निकाला जा सकता है। बालकों को अपनी आवाज को वाद्यों की स्वर से मिलाने में सुविधा रहती है। इसके अलावा धुन पहिचानने का ज्ञान भी वाद्यों के सहयोग द्वारा सभी प्रकार कराया जा सकता है।

हारमनी का प्रयोग

पाश्चात्य देशों में आवाज के गुण-धर्मानुसार गाने की सुविधा प्राप्त होती है। प्रत्येक स्तर की आवाज के व्यक्ति सामूहिक रूप में विभिन्न स्वरों से एक साथ गीत गाते हैं। यह क्रिया हारमोनी कहलाती है। शिक्षा में हारमोनी का प्रयोग करने से स्वर-साम्य लाने की समस्या का समाधान हो जाता है। इस शैली द्वारा गीत गाने में पर्याप्त वाद्य-यन्त्रों की सुविधा होनी आवश्यक होती है। इसलिए इसका उपयोग व्यावसायिक कम्पनियों के लिए तो सम्भव हो सकता है किन्तु देश की ऐसी शिक्षण संस्थाओं के लिये जिनके पास पर्याप्त साधनों का अभाव है, ऐसा सम्भव नहीं हो सकता।

अभिनय

गीत के भावार्थ एवं लय-ताल का ज्ञान कराने के लिये आंगिक-अभिनय का उपयोग किया जाना चाहिये। लयबद्ध अंग-संचालन से बालकों का शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही प्रकार का विकास होता है। अभिनय का संबंध गीत के शब्दार्थ एवं भावार्थ से होता है। अभिनय की शिक्षा से भावानुकूल एवं शुद्ध उच्चारण का भी बालकों को ज्ञान होता है। अभिनय का अभ्यास नकल द्वारा किया जाता है। नकल करना बालक की मनोवृत्ति में सम्मिलित है और नकल कराना अध्यापक के कौशल पर निर्भर करता है। अभिनय द्वारा गीत सिखाने से पिछड़े बालकों का भी विकास होता है। अभिनय से बालकों का आत्माभिमान बढ़ता है।

नृत्य

कुछ बालकों की आवाज गाने योग्य नहीं होती किन्तु वे भी गाने में हिस्सा

लेना चाहते हैं। नृत्य में नाट्य एवं नृत्त का समावेश होता है, अतः इसके साथ गीत अधिक प्रिय प्रतीत होता है। नृत्य से वेशभूषा, साजसज्जा, लय एवं ताल, अंगसंचालन के अलावा मंच-व्यवस्था का भी साधारण ज्ञान बालकों को हो जाता है। जिनमें गीत गाने की प्रतिभा है, ऐसे बालकों को नृत्य द्वारा शिक्षा देने से कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता किन्तु विपरीत स्थिति के बालकों में नृत्यगत प्रतिभा का विकास हो जाता है। इस पद्धति से नृत्य करने वाले बालकों का व्यक्तित्व अधिक प्रकाश में आता है।

रंग-मंच

गान विद्या का संबंध मंच से है। अतः इसकी शिक्षा की पूर्णता रंगमंचीय-ज्ञान अर्थात् मंच पर आना-जाना, मंच पर खड़े होने की स्थिति, श्रोताओं से अनुकूल संबंध बनाना आदि पर निर्भर करती है। मंच गायक का परीक्षा-स्थल होता है और मंच द्वारा ही कलाकार के ज्ञान एवं अनुभव का विकास होता है। मंच की परिस्थिति से परिचित कराने के लिये बालक को मंच पर उपस्थित करना चाहिये। बालक की प्रतिभा और गीत को परिस्थिति के अनुसार प्रस्तुत करने का चातुर्य्य रंगमंच पर उपस्थित होने पर ही प्राप्त होता है। गीत की सफलता का मूल्यांकन श्रोता करते हैं। अतः श्रोताओं की स्थिति एवं स्तर का अनुभव बार-बार उनके बीच गाने से ही प्राप्त होता है। इसलिये रंग-मंच का ज्ञान गीत की शिक्षा का अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण अंग है।

खेल

बालकों की प्रवृत्ति खेलने में अधिक होती है। वे अपने खेलों में गीतमय ध्वनियों का प्रयोग करते हैं, जो उनकी स्वयं की उपज होती है। अध्यापक बालोपयोगी शिक्षा-प्रद खेलों के साथ गीत को संबंधित कर ज्ञान करा सकता है। खेलों में गीत का प्रयोग करके शिक्षा देने से बालकों की रुचि ज्ञान प्राप्त करने हेतु बनी रहती है और खेल से उत्पन्न थकान को भी वे अनुभव नहीं करते। खेल-गीतों से बालकों में प्रेम, अनुशासन, सदाचार आत्माभिमान आदि भावनाओं का विकास होता है। बालकों के चरित्र-निर्माण, शारीरिक एवं बौद्धिक-विकास में खेलमय गीत उपयोगी सिद्ध होते हैं।

चित्र, मॉडल एवं कथागीत

गीत का अर्थ समझाने के लिये चित्र-मॉडल का उपयोग किया जा सकता

है जो, बालकों की रुचि बनाये रखने के लिये सुविधाजनक प्रतीत होता है। गीत से संबंधित शिक्षण-उपकरण बालकों को दिखा कर उचित शिक्षा दी जा सकती है अथवा यदि सम्भव हो सके तो बालकों को उपकरण भी दिये जा सकते हैं। बालक खिलौने के रूप में उपकरण पाकर प्रसन्न होता है तथा उसके बारे में जानकारी प्राप्त करने की उसमें उत्सुकता उत्पन्न होती है। इस उत्सुकता की पूर्ति अध्यापक कहानी (कथा-गीत) सुनाकर कर सकता है। बालक भी अध्यापक के साथ गाते हैं और बालकों में ज्ञान प्राप्त करने के प्रति जिज्ञासा बनी रहती है।

इस प्रकार समूह-गीतों की शिक्षा बाल मनोविज्ञान पर आधारित होनी चाहिए, जो बालकों को सुविधाजनक एवं रोचक प्रतीत हो। आदर्श समूह-गीतों की शिक्षा में बालक का सर्वांगीण विकास करने का उद्देश्य निहित है।

सामूहिक गीतों का निरीक्षण

विद्यालय में सामूहिक-गीत दो रूपों में प्रस्तुत होते आये हैं —

(१) कक्षास्तरानुसार (२) शाला के समस्त बालकों द्वारा।

कक्षास्तरानुसार गीत सिखाने में अध्यापक को अधिक श्रम नहीं करना पड़ता किन्तु एक साथ पाठशाला के समस्त बालकों को व्यवस्थित रूप से गवाने एवं उनके गाने का निरीक्षण करने में काफी कठिनाई आती है। ऐसी स्थिति में यह उचित है कि प्रारम्भ में शिक्षक अच्छी आवाज के कुछ छात्रों को गीत सिखा कर शेष छात्रों से गीत का अनुकरण करावे तथा स्वयं छात्रों को आवाज-गुण के अनुसार तीन प्रकार से विभाजित करे:—

(१) अच्छी आवाज के छात्रों की पंक्ति आगे रहे।

(२) मध्यम अथवा साधारण आवाज के छात्रों की पंक्ति बीच में रहे।

[illegible] के छात्र सबसे अन्त में रहें।

अच्छी आवाज के छात्रों को गीत का सम्पूर्ण अंश गाने को दिया जा सकता है। मध्यम आवाज के छात्रों से गीत का मध्य एवं मन्द्र सप्तक का अंश गवाया जा सकता है। निम्न स्तर की आवाज वाले छात्रों के अनुकूल गीत का अंश छांटना उचित है अथवा गीत में उनके अनुकूल अंश और जोड़ देना जरूरी है। ऐसे बालकों की आवाज पूर्व निर्धारित गीत के स्वर-ताल की व्यवस्था में कठिनाई उपस्थित करती है। अतः अध्यापक उनकी आवाज के अनुकूल स्वरों को गीत में जोड़ते समय इस बात का भी ध्यान रखे कि बालकों में हीनता की भावना न आने पाये और उनका गायन के प्रति उत्साह भी भंग न हो।

इस प्रकार तीन स्तर निर्धारित करने के बाद उनके गाने की क्रिया को अलग-अलग सुन कर गीत को बालक किस प्रकार से गा रहे हैं, यह जानने में अध्यापक को निरीक्षण करने में सुविधा होगी।

डॉ. जयचन्द्र शर्मा

जन्म ◆ १९ सितम्बर १९१९

शिक्षा ◆ संगीत शिक्षा [illegible]
(Doctor of Teaching in Music)

संस्थापक ◆ संगीत कॉलेज, [illegible]
श्री संगीत भारती
बीकानेर, [illegible]
संगीत स्तर योजना
समिति, बीकानेर
भारतीय नाट्यकला
विद्यापीठ, बीकानेर

कृतियाँ ◆ संगीत निबन्ध,
फिल्मी फुलझड़ियाँ,
संगीत सुधा, बाल
संगीत, नृत्य मञ्जरी,
घुंघरू के बोल
संगीत निबन्ध [illegible]
निबन्ध, [illegible]
संगीत शिक्षा।